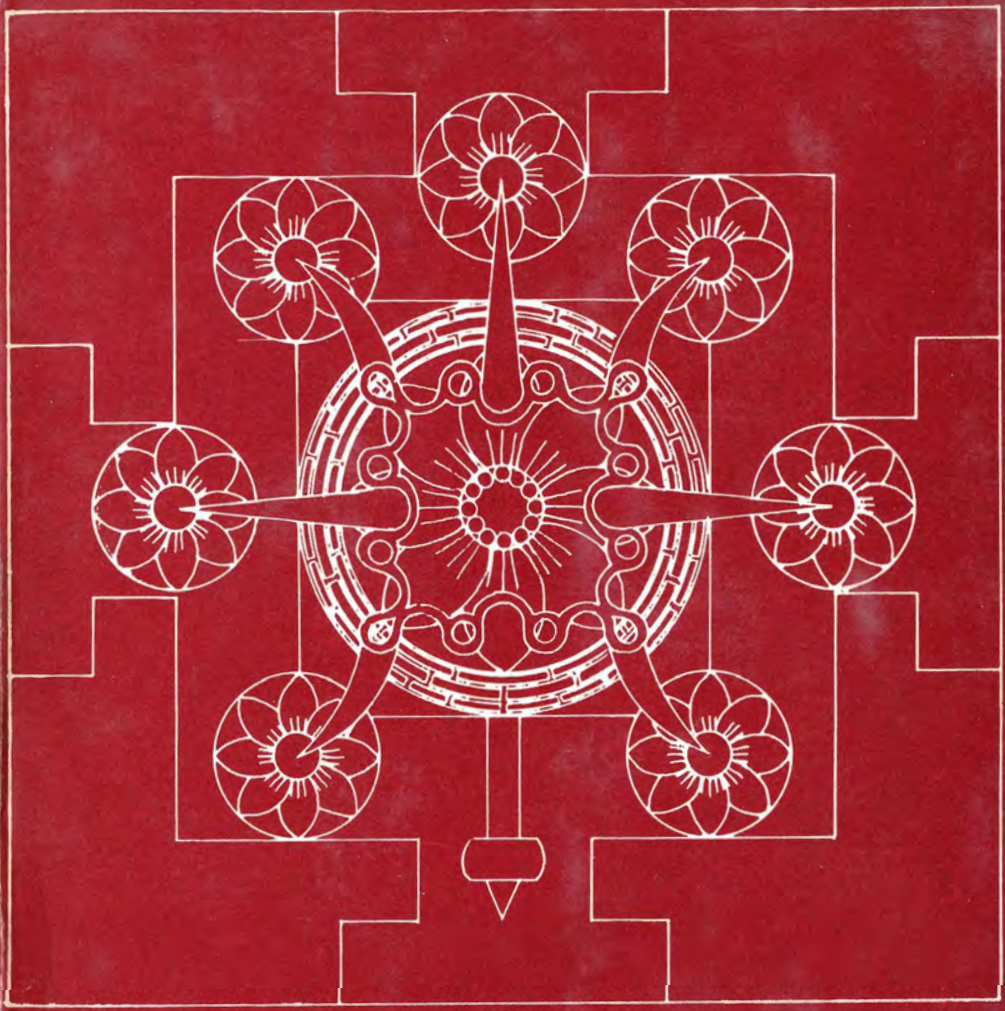

काश्मीर की शैव परम्परा

रामचन्द्र द्विवेदी

काश्मीर की शैव परम्परा

य दर्शन में काश्मीर का शैवदर्शन जिसे त्रिकदर्शन भी कहा जाता
सकी एक समृद्ध और विकसित आगम परम्परा है। डॉ. रामचन्द्र
इस धारा के मर्मज्ञ विद्वान हैं।

आचार्य द्विवेदी का मत है कि मध्यकालीन साधना पद्धतियों,
ष्णव सम्प्रदाय, संत साहित्य, सिद्ध परम्परा तथा उनके चिन्तन
न निश्चित ही आगम और उससे प्रसूत तत्त्वचिन्तन तथा साधना
ययन से ही सम्भव है। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण अवधारणा
बिना सम्भव नहीं है। इस परम्परा का प्रवाह कभी-कभी क्षीण
हुआ है पर रुका या सूखा नहीं है।

काश्मीर का अद्वयवादी त्रिकदर्शन तान्त्रिक विचारधारा और
का व्यवस्थित दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वस्तुत:
आगमों तथा तन्त्रों का प्रतिनिधि दर्शन है। इसी के दार्शनिक
य दर्शन तथा साधना का निरूपण प्रस्तुत ग्रंथ में है।

N 81-214-363-4

MUNSHIRAM MANOHARLAL
PUBLISHERS PVT. LTD.
Sanskrit Religious Music
& Ayurvedic Book Seller
4416, Nai Sarak, DELHI-110006
Phone 23911154

नैशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

हीरानन्द शास्त्री स्मारक-व्याख्यानमाला-9

काश्मीर की शैव परम्परा

रामचन्द्र द्विवेदी

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002

शाखाएं
चौड़ा रास्ता, जयपुर
34, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-3

ISBN 81-214-363-4

मूल्य : 52.00

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 23, दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 द्वारा प्रकाशित / प्रथम संस्करण : 1990 / सर्वाधिकार : डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी / कला भारती, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32 में मुद्रित

KASHMIR KI SHAIV PARAMPARA
by Ram Chandra Dwivedi Rs. 52.00

निवेदन

डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी का यह ग्रन्थ 'काश्मीर की शैव परम्परा : साहित्य, दर्शन, साधना' हीरानन्द शास्त्री व्याख्यान माला के अन्तर्गत दिये गये उनके व्याख्यानों का मुद्रित रूप है।

श्री द्विवेदी भारतीय दर्शन के जाने-माने अध्येता और विद्वान हैं। काश्मीर-शैवदर्शन के क्षेत्र में उनका योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने तत्सम्बन्धी कई संस्थाओं का निर्देशन कर उनको स्थापित किया है।

विद्वत् समाज इस तथ्य से अच्छी तरह परिचित ही है कि भारत के विविध दर्शनों में काश्मीर के शैवदर्शन की भूमिका कितनी अहम् है। इसकी परिव्याप्ति भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य में इतनी गहन है कि इसके परिज्ञान के बिना उनको सम्यक् रूप से समझ पाना दुष्कर है।

यह ग्रन्थ उस आवश्यकता की पूर्ति करेगा, इस कामना के साथ

न्यासधारी सचिव
वत्सल निधि

इला डालमिया

वत्सल-निधि

वत्सल-निधि (स्थापित 1980) के न्यास-पत्र के अनुसार उसके उद्देश्य ये हैं :

—साहित्य और भाषा की संवर्द्धना : साहित्यकारों और विशेषत: युवा लेखकों की सहायता साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रतिमानों, संस्कारों का तथा साहित्य-विवेक और सौन्दर्य-बोध का विकास; अन्य सभी सम्बद्ध आनुषंगिक कार्य ।

इन लक्ष्यों के लिए अपने साधनों की सीमाएं ध्यान में रखते हुए वत्सल निधि निम्नलिखित कार्यों का आयोजन करेगी :

—व्याख्यान-मालाएं, शिविर, कार्यशालाएं, संगोष्ठियां, परिसंवाद, सभाएं, उत्सव और यात्राएं;

—सन्दर्भ सामग्री और दस्तावेज़ों का संग्रह, दृश्य-श्रव्य उपकरणों का संग्रह तथा फ़िल्म, टेप, चित्र, पाण्डुलिपि आदि का निर्माण, सम्पादन आदि;

—लेखकों के लिए विनिमय, भ्रमण, सहयोग और सहायता के कार्यक्रम;

—शोध अथवा लेखनावकाश वृत्तियां;

—पत्रकों और पुस्तिकाओं का प्रकाशन आदि ।

स्व० डॉ० हीरानन्द शास्त्री (1874-1946), जिनकी स्मृति में वत्सल निधि द्वारा एक व्याख्यान-माला का प्रवर्तन हुआ है, भारतीय इतिहास, पुरालेख तथा पुरातत्त्व के प्रसिद्ध मर्मज्ञ और संस्कृत तथा अन्य प्राचीन भारतीय भाषाओं के विद्वान थे । कुशीनगर, सारनाथ, नालन्दा आदि के महत्त्वपूर्ण उत्खनन उनकी देख-रेख में हुए थे । पंजाब के पर्वतीय प्रदेश के पुरावशेषों का सर्वेक्षण, लखनऊ-संग्रहालय की स्थापना, तत्कालीन जम्मू-काश्मीर राज्य में पुरातत्त्व-

विभाग की और श्रीनगर-संग्रहालय की स्थापना, बड़ौदा राज्य में पुरातत्त्व विभाग का संस्थापन और बड़ौदा-संग्रहालय के भारतीय खण्ड का पुनः संगठन और गुजरात के विभिन्न स्थलों में उत्खनन कार्य का आरम्भ उन्होंने किया।

डॉ० हीरानन्द शास्त्री के प्रकाशनों में कई शोध-प्रबन्ध और प्राचीन स्थलों की परिचायिकाएं भी हैं। चित्रकला और मुद्राशास्त्र के बारे में उन्होंने पुस्तकें लिखीं। एपीग्राफ़िया तथा इंडियन एण्टिक्वेरी का उन्होंने कई वर्षों तक सम्पादन किया। विंसेण्ट स्मिथ के भारतीय इतिहास की एक लम्बी और विवरणात्मक आलोचना प्रकाशित करने की सरकारी अनुमति न मिलने पर उन्होंने उसे निजी तौर पर इतिहासविदों के पास अवलोकनार्थ भेजा था।

डॉ० हीरालाल, श्री राखालदास वन्द्योपाध्याय और डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल उनके अभिन्न मित्रों और सहयोगियों में रहे। इसके अतिरिक्त देश और विदेश के अनेक विद्वानों और भारतविदों से उन्हें सम्मान मिला : इनमें स्व० गौरीशंकर ओझा, राहुल सांकृत्यायन, राय कृष्णदास, वोगेल, लेवी, सेनार, ओल्डहम, फ्रेंच आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रीगणेश

इला जी का और वत्सलनिधि के न्यासधारियों का मैं हृदय से अनुग्रहीत हूं। उन्होंने अपनी आत्मीयता को मेरी पात्रता मान लिया पर मुझे खुशी है कि इस व्याज से मुझे स्व० श्री हीरानन्द शास्त्री जी की पुण्यस्मृति को अपनी श्रद्धा के व्याख्यान अर्पित करने का अवसर मिल सका। इस श्राद्ध के मुख्य यजमान हमारे बीच नहीं हैं पर उन्होंने भारतीय साहित्य और संस्कृति को जो नयी दृष्टि और आयाम दिये हैं, वे हमारा पथ निरन्तर आलोकित करते रहेंगे। श्रद्धेय अज्ञेय जी को हमारी शत-शत श्रद्धांजलि समर्पित है। व्याख्यानों का आयोजन **'काश्मीर शैवदर्शन : साहित्य, दर्शन, साधना'** के नाम से हुआ था। प्रकाशन के समय मुख्य शीर्षक में शाब्दिक परिवर्तन कर दिया है। काश्मीर के त्रिकदर्शन की आगम-परम्परा, वाङ्मय, दर्शन और साधना के सम्बन्ध में यह आलेख प्राथमिक परिचय भर है। इस सामान्य परिचय को प्रस्तुत करने में मुझे पूर्व सूरियों से सहायता न मिलती तो गुप्त गंगा तक पहुंचना मुश्किल था। टिप्पणियों में संस्कृत के उद्धरण और सन्दर्भ बहुत दिये हैं ताकि पाठक मूल तक पहुंचकर अपना निर्णय ले सकें और गहरे भी पैठ सकें। श्रीमती बीना अग्रवाल, सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर ने व्याख्यानों को लिपिबद्ध करने में, वत्सला की तरह, मेरी सहायता की है, उसे आशीर्वाद।

आगम निगम से भिन्न परम्परा है। योग और भक्ति इसी आगम-परम्परा के अमूल्य उपहार हैं। प्रागैतिहासिक काल से इस परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। वेद (विशेषत: अथर्ववेद), उषनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, ब्रह्मसूत्र, पुराण आदि में तान्त्रिक साधना एवं दर्शन के अनेक सूत्र गुंथे हुए हैं। त्रिकदर्शन के अनेक आचार्यों ने इन ग्रन्थों से अपने मन्तव्य की संगति स्पष्ट की है और आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद को मुख्य धारा से विलग माना है। मध्यकालीन साधनापद्धतियों, शैववैष्णव सम्प्रदाय, सन्त-साहित्य, सिद्धपरम्परा तथा उनके चिन्तन का ज्ञान निश्चित ही आगम और उससे प्रसूत तत्त्वचिन्तन तथा साधना के अध्ययन से ही

सम्भव है। भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण अवधारणा इसके बिना सम्भव नहीं है। इस परम्परा का प्रवाह कभी-कभी क्षीण अवश्य हुआ है पर रुका या सूखा नहीं है।

काश्मीर का अद्वयवादी त्रिकदर्शन तान्त्रिक विचारधारा और साधना का व्यवस्थित दार्शनिक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। वस्तुतः यही आगमों तथा तन्त्रों का प्रतिनिधि दर्शन है। सोमानन्द, उत्पल और अभिनवगुप्त इस दर्शन के मुनित्रयी हैं। आलोचना तथा नाट्यशास्त्र के क्षेत्र में सुप्रसिद्ध अभिनवगुप्त के 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' का आधार त्रिकदर्शन है, तन्त्रालोक उसका विश्वकोष है। इसी की एक शाखा प्रत्यभिज्ञा दर्शन है जो जयशंकरप्रसाद की कामायिनी का मूलाधार है। इसके पूर्व तुलसी ने स्वयं अपने रामचरितमानस की रचना का आधार नाना पुराण, निगम और आगम को माना था। उत्पल और अभिनव ने, और इनसे पूर्व और बाद में काश्मीर के अनेक कवियों ने दार्शनिक और आध्यात्मिक अनुभवों को काव्यात्मक वाणी दी है। ललदेद (लल्लेश्वरी) के वरव (वचन) काश्मीरी भाषा के प्राचीन रूप हैं जो आज भी श्रीनगर में पण्डितों और मौलवियों की समान आस्था के केन्द्र हैं। त्रिपुरा सम्प्रदाय का दर्शन काश्मीर की तान्त्रिक विचारधारा से ओत-प्रोत है। अभिनवगुप्त की शिष्यपरम्परा उन्हीं के समय में केरल तक पहुंच गयी थी। वस्तुतः उनके तान्त्रिक दर्शन का और उसी के आधार पर प्रतिष्ठापित रस-ध्वनिदर्शन का अभी तक समर्थ खण्डन नहीं हो पाया है। बल्कि हुआ यह है कि आचार्य शंकर को भी तान्त्रिक माना जाने लगा है। दक्षिणामूर्तिस्तोत्र, सौन्दर्य-लहरी, प्रपंचसार आदि उनकी रचनाएं न भी हों तब भी शंकर की अद्वैत परम्परा में तान्त्रिक साधना एवं दर्शन के वे प्रमाण अवश्य हैं। इसी प्रकार महायान के उदय में और बौद्ध तान्त्रिक सम्प्रदायों के विकास में काश्मीर का अवदान स्वीकार किया जा रहा है। तन्त्र वस्तुतः बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त तथा वैष्णव मान्यताओं तथा साधनाओं का संगम-स्थल है। इधर तान्त्रिक विचारधारा को जादू-टोना भर न मानकर मानव और विश्व के सम्बन्ध में उसके चिन्तन को जानने-पहचानने की रुचि बढ़ी है। काश्मीर की तान्त्रिक परम्परा का, उसके साहित्य, दर्शन और साधना का यह परिचय उसमें सहायक होगा।

साहित्य अकादमी, रवीन्द्रभवन, नयी दिल्ली में 23 से 25 दिसम्बर तक इला जी की प्रेरणा से स्व० श्री हीरानन्द शास्त्री की स्मृति में आयोजित तीन व्याख्यानों को जिन प्रबुद्ध श्रोताओं ने शान्ति, धैर्य और सद्भाव से सुना था तथा विमर्श-सत्र में उन पर चर्चा की थी उनमें से प्रत्येक का मैं कृतज्ञ हूं। अन्ततः श्रीविद्या का—
त्वदीयाभिर्वाग्भिस्तव जननि वाचां स्तुतिमियम्।

रामचन्द्र द्विवेदी

क्रम

निवेदन
[V]

वत्सल-निधि
[VII]

श्रीगणेश
[IX]

साहित्य
[1]

दर्शन
[28]

साधना
[50]

अनुक्रमणी
[81]

ग्रन्थ-सूची
[97]

साहित्य

आगम, तंत्र, संहिता तथा यामल पर्याय हैं। काश्मीर की तान्त्रिक परम्परा और साहित्य के प्रमुख उपजीव्य आगम हैं। एक प्रसिद्ध परिभाषा के अनुसार तत्त्व और मंत्र के साथ विविध विषयों का तनन (विस्तार) करने वाला तथा ज्ञान का प्रतिपादक तंत्र है।[1]

एक अन्य परिभाषा के अनुसार शैव पदार्थों का व्युत्पादक शास्त्र तंत्र है जो कि धारणार्थक तंत्रि धातु से निष्पन्न है। इस प्रकार तंत्र शब्द विस्तारार्थक—तनु धातु से अथवा धारणार्थक अथवा व्याख्यार्थक—तत्रि अथवा तंत्रि धातु से निष्पन्न माना जाता है। तंत्र शब्द शास्त्र का भी सामान्य वाचक है। सांख्यकारिका की टीका युक्ति-दीपिका में जो तंत्र के गुण बताए गए हैं या अन्यत्र (चरकसंहिता, अर्थशास्त्र आदि में) जिन तंत्रयुक्तियों का उल्लेख है, वे वस्तुतः शास्त्रसामान्य के लिए ही हैं। मेदिनीकोष के अनुसार इसके और भी अर्थ हैं।[2] आगम के लिए तंत्र शब्द का प्रयोग पारिभाषिक है। आगम के एक भेद के अनुसार आगम पचीस विषयों का निरूपण करते हैं तो तंत्र सात का और यामल उन्हीं में से पांच का [द्र० टी० ए० गोपीनाथराव, एलीमेंट्स ऑव् हिंदू आइकोनोग्राफी, भाग 1, पृ० 21 (टि०)] तांत्रिक वाङ्मय के एक भाग के लिए यामल शब्द का भी प्रयोग होता है जिसके आठ लक्षण बतलाए गए हैं।[3] महातन्त्र और संहिता (स्वच्छन्दोद्योत, 1.7 के अनुसार) पर्याय

1. तनोति विपुलान् अर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान्।
   ज्ञानं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥ — कामिकागम, तन्त्रान्तरपटल।
2. तन्त्रं कुटुम्बकृत्ये स्यात् सिद्धान्ते चौषधोत्तमे।
   प्रधाने तन्तुवाये च शास्त्रभेदे परिच्छदे ॥
   श्रुतिशाखान्तरे हेतावुभयार्थप्रयोजके।
   इस लक्षण में सिद्धान्त या शास्त्रभेद के अन्तर्गत तन्त्र नाम से प्रसिद्ध साहित्य का ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।
3. सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्यकृत्यप्रदीपनम्।
   क्रमसूत्रं वर्णभेदो जातिभेदस्तथैव च ॥
   युगधर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्टलक्षणम् ॥
   इसी प्रकार रहस्य, जैसे कि शिवरहस्य आदि, शब्द का भी तान्त्रिक ग्रन्थ के लिए प्रयोग होता है। और भी कई संज्ञाएं प्रचलित हैं जिनका आकलन ग्रन्थों के शीर्षकों से किया जा सकता है।

हैं। इसके मुद्रा, मण्डल, मन्त्र तथा विद्या चार पीठ (आश्रय) हैं।

शैव, शाक्त, वैष्णव आदि संप्रदायों के विकास में इनका वही महत्त्व और स्थान है जैसा कि उपनिषदों का आस्तिक दर्शनों के विकास में। आगम निगम (श्रुति), स्मृति, पुराण से भिन्न वाङ्मय के प्रतिनिधि हैं। "**आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजामुखे, मतं च वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते ।।**" (सर्वोल्लासतन्त्र, 1.15)—यह आगमों की संवादात्मिका शैली तथा बोध्य-बोधक का भले ही परिचय दें, किन्तु उनकी निजी पहचान नहीं बता सकते। इसी प्रकार प्रसिद्धि[1], शब्दात्मिका प्रतीति[2] या विमर्शात्मकता[3] आगम को शब्दप्रमाणमूलक, परम्परामूलक अर्थात् मौखिक परम्परा से प्रसिद्ध और अन्ततः पारमेश्वर भले ही सिद्ध करना चाहें, पर वे किसी भी शास्त्र के सामान्य स्वरूप से, और विशेषतः ईश्वरप्रोक्त माने जाने वाले निगम से, भिन्नता नहीं स्थापित कर पाते।

श्रुति की तरह आगम भी बोधात्मक एवं शब्दात्मक है। वस्तुतः शब्द (परावाक्) से शास्त्र की ही नहीं, अपितु समग्र सृष्टि की अवतारणा अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्त है। भर्तृहरि द्वारा शब्द-ब्रह्म की उद्भावना के बाद परमेश्वर-प्रोक्त शास्त्रों के वागात्मक और विमर्शात्मक होने की विचारधारा दृढ़ होती गई। स्वयं भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया था कि ऋषियों का ज्ञान भी आगमपूर्वक अर्थात् प्राचीन ज्ञान-परम्परा पर आधारित है।[4] इस दृष्टि से परमशिव जो विश्व का आद्य गुरु है उसकी विमर्शशक्ति ही आगम-तन्त्र के रूप में अवतीर्ण होती है[5] और स्वयं सदाशिव गुरु-शिष्य-भाव में स्थित होकर प्रश्नोत्तरात्मिका शैली में आगम-तन्त्र का अवतरण करते हैं।[6] अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की एक साथ प्राप्ति के उपाय के रूप में भी आगम की व्याख्या की गई है—"**आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः** (तत्त्ववैशारदी, 1.7)।

परावाक् में सभी प्रकार के ज्ञान की एकात्मता के अभिप्राय को लेकर अभिनवगुप्त ने शास्त्रसम्मेलन नामक आह्निक में परम-आगम के एक होने की बात कही है[7] और उसी आधार पर लौकिक, वैदिक, सांख्य-योगादि, पांचरात्र, बौद्ध, आर्हत्, न्यायशास्त्र सिद्धान्त, तन्त्र तथा शाक्त आगम को स्वच्छन्दतन्त्र के प्रामाण्य[8] के आधार पर एक ही ब्रह्म से उद्भूत माना है। समग्र ज्ञान के आदि-स्रोत तथा परमकाष्ठा के रूप में योगशास्त्र के शब्दों में आदिगुरु के रूप में परमेश्वर को मानने की यह आस्था न केवल तान्त्रिक परम्परा में अपितु अन्य शास्त्रों के सम्बन्ध में भी पाई जाती है।

आगम-तन्त्र के विवरणात्मक लक्षण भी हैं। पिंगलमत आगम-लक्षण को छन्दोलक्षण से संसिद्ध बतलाता है।[9] कुलार्णवतन्त्र आचार का ज्ञापन करने वाले, दिव्यगति की प्राप्ति का उपाय बताने वाले तथा कथन करने वाले को आगम बताता है,[10] शब्दार्थचिन्तामणि सर्ग, अतिसर्ग, मन्त्रलक्षण, देवसंस्थान, तीर्थवर्णन, आश्रम-

धर्म, मन्त्रसंस्थान, भूतसंस्थान, यन्त्रनिर्णय, देवतरु आदि की उत्पत्ति, नक्षत्रविज्ञान, पुराणाख्यान, व्रतपरिभाषा, शौचाशौच, नरक-वर्णन, स्त्री-पुरुष-लक्षण, राज-दान-युग-धर्म व्यवहार, अध्यात्म-वर्णन आदि[11] अनेक विषयों को सम्मिलित करने के कारण आगम-तन्त्र की पहचान कर पाने और उसे पुराण-साहित्य से भिन्न कर पाने को और भी कठिन बना देता है।

पुराण के पंचलक्षण की भांति आगम के सप्तलक्षण पद्मसंहिता में निर्दिष्ट हैं—सृष्टि, प्रलय, देवताओं का अर्चन तथा साधना, पुरश्चरण, षट्कर्म-साधन तथा ध्यानयोग।[12] तन्त्र की भांति संहिता भी आगम का पर्याय है।[13]

स्वच्छन्द-तन्त्र के प्रारंभ में भैरवी के प्रश्नों से निर्णेय वस्तुओं का निर्देश किया गया है। इसके अनुसार गुरु, शिष्य, भूमि (मन्त्र, यागादि स्थान) मन्त्र, काल, यजन, हवन, अधिवास (संस्कार), रज (मण्डल-निर्माण के लिए उपयोगी शालिचूर्णादि), पंचगव्य, चरु, दन्तकाष्ठ, मण्डल, दीक्षा, वर्ण-मन्त्र-पद-कलातत्त्व-भुवनरूप षड्विध अध्वा, आचार्य का अभिषेक, दीक्षित व्यक्ति के विधि-निषेध रूप आचार (समय), सिद्धि-प्राप्ति के साधन, न्यास, जप, आज्य-संस्कार का निरूपण आदि का उपदेश आगम है।[14] मालिनीविजयोत्तर तन्त्र अत्यन्त विस्तीर्ण सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र का संक्षिप्त रूप है।[15] इसमें योग की सिद्धि चाहने वाले ऋषियों की प्रार्थना पर इस 'परमेश्वरमुखोद्गत' आगम में छः उपादेय (शिवादिषट्क—शिव, शक्ति, विद्येश, मन्त्र, मन्त्रेश्वर, अणु) और हेय (मल, कर्म, माया, मायीय, जगत्) के ज्ञान से सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है।[16] साथ ही इसमें जलादि तत्त्वनिरूपण और उनकी व्याप्ति, मन्त्रोद्धार, क्रिया एवं ज्ञानरूपा द्विविध दीक्षा, भुवन, देहमार्ग, मुद्रा, यजनन्यासादि, अधिवास (क्रियादीक्षा), अभिषेक, सद्यःप्रत्ययदायिनी दीक्षा, योगाभ्यास की विधि, पार्थिवी, वारुणी, आग्नेयी पंचतत्त्व—तन्मात्र वागिन्द्रियादि का धारणाएं, षोडशार चक्रात्मक देह में अहन्ता की धारणा, प्राणायाम, परमविद्या, परमयोग, कुलमार्ग, मन्त्रनिर्णय, चन्द्राकृष्टि-सूर्याकृष्टि (विशिष्ट योगविधि) आदि का निरूपण किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग एवं मन्त्र-साधना का यह आगम (जो कि रुद्रयामल तन्त्र का भाग है) मूलतः धारणाओं (चित्तस्थिरीकरण के विभिन्न उपायों) का प्रतिपादन करता है। अनेक आगमों में देवी के विभिन्न रूपों का विधान है और कुछ आगम या तन्त्र, जैसे कि कात्यायनी तन्त्र, कुब्जिका-तन्त्र, देवी के नाम से अथवा देवता-विशेष के नाम से, जैसे कि भैरव, रौरव, पाशुपत, प्रचलित हैं। आगम और तन्त्र के अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों विशेषतः वैष्णवागमों के नाम संहिता-नामान्त से भी प्रचलित हैं जैसे कि जयाख्य-संहिता, लक्ष्मीसंहिता आदि।

अस्तु, आगम या तन्त्र के विभिन्न लक्षण सम्पूर्णतः किसी एक आगम पर लागू नहीं होते, अपितु वे आगमों के विकास-क्रम और विविधता की ओर अवश्य

संकेत करते हैं। आगम के स्वरूप-निर्णय के लिए अन्ततः हमें उनकी श्रुति, स्मृति, पुराण से समानता और भिन्नता को जानना आवश्यक है। अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक एवं तंत्रसार में अद्वयप्रधान तन्त्रों की निम्नलिखित विशेषताएं सूचित की हैं—[17]

1. बन्धहेतु अज्ञान का मलरूप में प्रतिपादन तथा उस अज्ञान के पौरुष (आध्यामिक) और बौद्ध दो भेद।
2. आत्मरूप शिव की प्रकाशविमर्शमयता।
3. प्रकाश का विश्वरूप में अवभासन।
4. शिव की स्वातन्त्र्यशक्ति अथवा कर्तृत्वशक्ति की प्रधानता।
5. शिव की विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वमयता।
6. जीव (सिद्धान्तमत में पशु) अथवा परिमितप्रमातृभाव का शिव (परमतत्त्व) द्वारा स्वेच्छया ग्रहण।
7. सत्तर्क, सदाशय एवं सद्गुरु की सहायता से विकल्पसंस्कारपूर्वक पूर्णाहन्ता का प्रकाशन।
8. विकल्प-संस्कार द्वारा जीव का विश्वात्मरूप में प्रकाशन।
9. योगांगों में सत्तर्क की श्रेष्ठता।
10. याग, होम, व्रत, योग द्वारा शुद्ध विद्या का उदय।
11. सम्पूर्ण शक्तियों की अभिव्यक्ति से पूर्णता का प्रकाशन।
12. त्रिक आगमों की श्रेष्ठता।

महेश्वरानन्द ने महार्थमंजरी में तन्त्र के व्यवच्छेदक धर्मों (तन्त्रप्रतिपाद्य अर्थतत्त्व) का विशिष्ट निरूपण किया है। उनके अनुसार—

1. शब्दस्पर्शादि विषयों का विक्षोभ, जो दूसरे दर्शनों की दृष्टि से बन्धन का कारण है वहीं जीवनमुक्ति का उपाय है,
2. मोक्ष के उपाय और उपेय में समरसता है,
3. प्रकाशविमर्श की समरसता देह में अवस्थित है जो षडध्वा की समष्टि है,
4. भोग और मोक्ष भिन्नकोटिक नहीं हैं,
5. अतः वेद, स्मृति, पुराणादि में जिन्हें गर्हित माना गया है, वे तान्त्रिक उपासना में अभ्यर्हित माने गए हैं (तन्त्रालोक एवं अन्य ग्रन्थों के अनुसार लौकिक-अलौकिक, शुद्धि-अशुद्धि अथवा विधि-निषेध तन्त्र में मान्य नहीं हैं),
6. परावाग्रूप मन्त्र पूर्णाहन्ता के प्रकाशक हैं,
7. पूजा, देवता, मुद्रा आदि स्वात्मविमर्श अर्थात् स्वात्मा का परमात्मा के साथ तादात्म्य के उन्मेषक हैं।[18]

निष्कर्षतः आगम या तान्त्रिक परम्परा में ज्ञान तथा क्रिया (पूजा, उपासना, साधना, योग, भक्ति, कर्मकाण्ड) का निरन्तर सहभाव है। क्रिया के विभिन्न रूप हैं, जैसे कि दीक्षा, याग, अभिषेक, मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, नाद-साधना, षडध्व-साधना, न्यास, जप, ध्यान, तर्पण, लिंगोद्धार, कुण्डलिनीयोग इन्हें पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकात्मता मानकर देह-चक्र द्वारा साधा जाता है। यही प्रकाश और विमर्श का सामरस्य है। इसी दृष्टि से आगम के सामान्यतः चार पाद—ज्ञान, क्रिया, योग एवं चर्या—होते हैं। शिवपुराण (7.2.10.31-33) के अनुसार पशु, पाश और पति का ज्ञान ज्ञानपाद का विषय है, गुरु के निर्देशन में विधिपूर्वक षडध्वसिद्धि क्रियापाद का विषय हैं, अर्चना आदि चर्या हैं तथा शिव-भावना से भावित होकर वृत्त्यन्तर का निरोध योग है।

तान्त्रिक दर्शन एवं साधना के अनेक बीज वेदों में, विशेषतः अथर्ववेद में, उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के वे अंश, जिनमें जादू-टोना-अभिचारादि का अंकन है, उन्हें कुछ विद्वान प्रागैतिहासिक युग की देन और ऋग्वेद की यज्ञपरक ऋचाओं की अपेक्षा अधिक प्राचीन मानते हैं। उनके अनुसार भैषज्यपरक एवं पौष्टिक अथवा वे स्थल जिनमें राक्षस, गन्धर्व, अप्सराओं का वर्णन मिलता है, उनकी रचना इण्डो-यूरोपियन काल की देन है। जिन व्रात्यों को ब्रह्मबंधु और मागधदेशीय (ब्रह्मबंधवो वै मागध-देशीयाः। लाट्यायनश्रौतसूत्र, 8,6,28) कहा गया है, अथर्ववेद (काण्ड 15) में उनके वर्णन के सन्दर्भ में आए प्रजापति, ईशान, महादेव, नीललोहित आदि के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि व्रात्य आर्यों की ही एक उपजाति थी जो ऋग्वेद की क्लिष्ट धार्मिक परम्परा से हटकर भिन्न आचार का पालन करती थी और इनका रुद्र से विशेष सम्बन्ध था। व्रात्यों के अतिरिक्त वैष्णव तथा श्रमण धर्म के बीज भी अथर्ववेद में प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद का दूसरा नाम अथर्वांगिरस भी प्रचलित है। 'अंगिरस' शब्द को जादू-टोना, कृत्या, अभिचारादि का सूचक माना जाता है। मधुसूदन सरस्वती ने 'अथर्वन्' शब्द को 'शान्तिक-पौषाभिचारिक' की संज्ञा दी है। अतः यह मानना उचित होगा कि ऋग्वेद से प्राचीन प्रागैतिहासिक धर्म के बीज अथर्ववेद की श्रुति में सुरक्षित हैं।[19] वैदिक यज्ञ में पशुबलि, चरु आदि का विधान (ऐतरेय आरण्यक, 3.2.1.2), तन्त्र की भांति आचमन से पूजा के प्रारंभ व बीजमन्त्र से शुद्धि, स्थालीपाक-यज्ञ में रात्रिसूक्त के उच्चारण का विधान, ॐ की प्रधानता, शतपथ ब्राह्मण में हिंकार के रूप में उच्चारण आदि अनेक कर्मकाण्डीय विधानों का तान्त्रिक पूजाप्रक्रिया के साथ सम्बन्ध देखा जा सकता है। अग्निचयन का रुद्र-शिव से निकट सम्बन्ध है। उसमें स्थापित अग्नि रुद्र हैं। अग्निचयन के अन्तर्गत किए जाने वाले होम में पुरुष और रुद्र भिन्न नहीं हैं। शतरुद्रीय में रुद्र का विशेषण सहस्राक्ष भी प्राप्त होता है। मैत्रायणीसंहिता (2.9.1) में जिस पुरुष की प्रार्थना की गई है, वह वस्तुतः रुद्र ही है। इसके द्वितीय मन्त्र में महादेव, शिव व सहस्राक्ष

विशेषणों के द्वारा आह्वान किया गया है। मैत्रायणी संहिता के शतरुद्रीय प्रकरण के अनुसार पुरुष सूक्त में वर्णित पुरुष देवता रुद्र है, यह सहस्राक्ष विशेषण के प्रयोग से सूचित होता है। शांखायन ब्राह्मण (6.1-2) में 'सहस्राक्षः सहस्रपात्…' के द्वारा इसकी पुष्टि मिलती है। शांखायनब्राह्मण में शिव पुरुष के भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, महादेव, रुद्र, ईशान व अशनि नाम मिलते हैं। शतपथ ब्राह्मण (6.1.3. 1-20) में इन आठ नामों के अतिरिक्त नवां नाम कुमार भी दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रौतसूत्रकाल के पूर्व ही वैदिकों द्वारा शिवलिंग-पूजा का प्रारंभ हो गया था। तैत्तिरीय आरण्यक के पूर्व में रचित महानारायणोपनिषद् में ऊर्ध्व-लिंग, सुवर्णलिंग, हिरण्यलिंग, दिव्यलिंग, भवलिंग, शर्वलिंग, ज्वलालिंग, आत्मलिंग, परमलिंग व शिवलिंग को नमस्कार का उल्लेख है। बृहदारण्यक (6.2) तथा छान्दोग्य (5.8) उपनिषद् में वर्णित पंचविद्या तथा छान्दोग्य (3.1-10) में मधु-विद्या भी गुह्य तान्त्रिक उपासना-पद्धति को अन्तर्गभित किये हुए हैं। शैव की भांति वैष्णवतन्त्र के भी बीज वेदों में प्राप्त हैं।[20]

बीजमन्त्र की किंवा वाक् की विभिन्न रूपों में उपासना तान्त्रिक प्रक्रिया में प्रसिद्ध है। इसके बीज भी वैदिक परम्परा में प्राप्त होते हैं। जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण में अ का तादात्म्य ब्रह्म से स्थापित किया गया है, उसी को वाग्रूप माना गया है, उसी को अक्षरसमाम्नाय का रस कहा गया है, वाणी में ही सारे विश्व का समर्पण स्वीकार किया गया है। शब्दरूप अकार किं वा वाक् की प्रशंसा में अनेक श्रुति-वचन उपलब्ध हैं [21], जिनका तन्त्र-प्रतिपादित मातृकाओं से साक्षात् सम्बन्ध प्रतीत होता है। ऋग्वेद का रात्रिसूक्त तथा वाक्सम्बन्धी सूक्त (द्र० वागाम्भृणीसूक्त, 10.125) शक्ति की प्रधानता के महत्त्वपूर्ण वैदिक सूत्र हैं। इस प्रकार आगम-प्रतिपादित विद्या का निगम से सम्बन्ध होने पर भी आगमतन्त्र को अवैदिक अथवा वेदबाह्य बताया जाता रहा है।

तान्त्रिकता के बीज अत्यन्त प्राचीन हैं। इस सम्बन्ध में तथा सिन्धुघाटी की सभ्यता में उपलब्ध साक्ष्य और वेदों के साथ उस सभ्यता के सम्बन्ध में विद्वान अभी तक एक-मत नहीं हो पाये हैं। इसका मूल कारण सिन्धुलिपि का पढ़ा न जाना है। जे० एन० चटर्जी तान्त्रिकपूजा के बीज ई० पू० तीन हजार वर्ष पूर्व तक स्वीकार करते हैं (पुराणिक एंड तान्त्रिक रिलीजन, पृ० 64), रामाशास्त्री उन्हें ई० पू० एक हजार वर्ष तक मानते हैं। ई० पू० छठी और सातवीं शती में प्राप्त प्राचीन सिक्कों पर उत्कीर्ण चिह्नों को उन्होंने तान्त्रिक प्रतीक माना है (तन्त्रज स्टडीज ऑन देयर रिलीजन एंड लिट्रेचर, पृ० 10)। पाश्चात्य विद्वान् फिलिप राउसन (Phillip Rawson) की दृष्टि में ईसा से 20 हजार वर्ष पूर्व यूरोप के पुरापाषाण कालीन प्राकृतिक शिलागुफाओं में उपलब्ध प्रतीक तान्त्रिक प्रतीकों के अत्यन्त समान हैं (तन्त्र, दि इण्डियन कल्ट ऑव एस्टेसी, पृ० 1)। सिन्धुघाटी की सभ्यता में प्राप्त

पशुपति शिव तथा योग-मुद्रा में खड़े या बैठे अनेक योगियों की मुद्राएं हैं जो तान्त्रिक साधना के बहुल प्रकार को सूचित करती हैं। गोवर्धनराय शर्मा के अनुसार प्राक्हड़प्पीय सभ्यता में, जो बलूचिस्तान से हरियाणा तक के पूरे क्षेत्र में समान रूप से फैली थी, मातृ, मृण्मूर्ति या सींग वाले जानवर की पूजा प्रचलित थी, उसी से हड़प्पाकाल के देवता की उत्पत्ति हुई। मृण्मूर्तियों के साक्ष्य मध्य एशिया, नमजगा आदि में उपलब्ध हुए हैं। 'कालीवंगन' के निचले धरातल में कोरदीजी संस्कृति (प्राक्हड़प्पीय) प्राप्त हुई है। इस काल की रेडियो-कार्बन तिथि 2920 से 2550 के बीच की है (भारतीय संस्कृति : पुरातात्त्विक आधार, पृ० 60-61)।

यह सच है कि मातृपूजा के विशिष्ट रूप हमें सिन्धुघाटी की सभ्यता में मिलते हैं। उसमें प्राप्त अनेक मूर्तियां शैव-शाक्त सम्प्रदायों की पूर्व रूप हैं, पर उस सभ्यता का वैदिक सभ्यता के साथ सम्बन्ध भेदात्मक ही है, यह अभी तक निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता। यह कहना अधिक उचित होगा कि आर्य-अनार्य सभ्यताओं का भारतभूमि में निरन्तर संश्लेषण होता रहा। विभिन्न सांस्कृतिक सरिताएं भारतीय संस्कृति के महासमुद्र में स्वयं को निरन्तर समर्पित करती रहीं। आज किसी विशेष रूप को लेकर यह कह पाना कि यह आर्य है या अनार्य, वैसा ही होगा जैसे महासमुद्र से गंगा या कावेरी के जल को अपनी अंजलि में लेकर बताना।

श्रुति के अत्यन्त प्राचीन होने के नाते उसके वास्तविक अर्थ की विस्मृति-सी हो गई थी। सम्भवतः इसीलिए कौत्स ने 'सर्वे मन्त्राः अनर्थकाः' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, तथापि वेदार्थ के अनुसन्धान की प्रवृत्ति सांस्कृतिक अस्मिता तथा जातीय तादात्म्य के लिए आवश्यक थी। इस विस्मृति को ही स्मृति में गर्भित करने के प्रयास स्मृतिशास्त्र हैं। स्वयं श्रुति भी स्वगत विरुद्धार्थ किंवा आत्मालोचन से आवेष्टित है। संहिता की जो व्याख्या ब्राह्मण वाङ्मय ने की, उसका भिन्न रूप आरण्यकों एवं उपनिषदों के अर्थ में प्राप्त होता है। एक ओर मीसांसक 'ब्राह्मण' को प्रधान वेदार्थ मानकर मन्त्रों की यज्ञकर्मपरक व्याख्या करते हैं तो दूसरी ओर आचार्य शंकर कर्मरूप वेदार्थ का परित्याग कर ब्रह्मविज्ञान को श्रुति का प्रधान तात्पर्य घोषित करते हैं। वेद के सम्बन्ध में ये दोनों नितान्त विरोधी प्रतिपत्तियां हैं। पद्मपुराण में इसी कारण शैव, पाशुपतादि, वैशेषिक, न्याय, सांख्य, निरीश्वर-मीमांसा, चार्वाक, बौद्धशास्त्र के साथ शंकर के मायावाद को असच्छास्त्र और प्रच्छन्न बौद्ध घोषित किया है। ये सभी शास्त्र तामस, वेदार्थ-विरोधी, लोकगर्हित घोषित किए गए हैं।[22]

वैदिक और अवैदिक, प्रामाणिक या अप्रामाणिक, सच्छास्त्र या असच्छास्त्र के विवाद से बचने के लिए महाभारत, नाट्यशास्त्र, इतिहास-पुराण, साहित्य-शास्त्र आदि अनेक शास्त्रों ने स्वयं को पंचम वेद कहना अधिक उचित समझा। इस तरीके से इन शास्त्रों ने अपनी स्वतन्त्रता और वेद-परम्परा से अनुकूलता बनाए

रखने का नया प्रयत्न किया और इसी कारण ये पंचम वेद सार्ववर्णिक हैं। इनमें प्रतिपादित विद्या या ज्ञान को समझने व उसमें सहभागी होने का अधिकार सभी वर्णों एवं उनकी स्त्रियों को प्रदान किया गया। चूंकि शंकर का भाष्य श्रुति-प्रामाण्य पर आधारित है अतः उन्होंने कर्मविद्या की भांति[23] ब्रह्मविद्या में शूद्र का अधिकार नहीं माना।[24] आचार्य रामानुज ने श्रुति के अतिरिक्त भागवत का प्रामाण्य स्वीकार करने पर भी उसका अधिकार प्रपत्ति तक सीमित रखा। विभिन्न तान्त्रिक सम्प्रदायों में स्त्री-शूद्र के प्रवेश, शुद्धि-अशुद्धि व विधि-निषेध से परे होने, षट्कर्म (मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, शांति और विदूषण), पंच मकार, वामाचार आदि की मान्यता के कारण एवं स्वयं को वैदिक विधि से श्रेष्ठ घोषित करने के कारण आगम या तन्त्र को वेदबाह्य या अवैदिक कहा जाता रहा है।[25] कुमारिल ने (तन्त्रवार्तिक 1.3.2.4) श्रुति, स्मृति एवं पुराण का ही प्रामाण्य स्वीकार किया था। लुप्त वेद-परम्परा के आधार पर सांख्य, पांचरात्र, पाशुपत, बौद्ध और जैन शास्त्रों की वेदमूलकता स्वीकार नहीं की थी।

इसके विपरीत आगम को श्रुति, स्मृति या धर्मशास्त्र या वेद की तरह प्रामाणिक मानने की परम्परा भी रही है। श्रीरामानुजाचार्य ने सांख्य, योग, पांचरात्र, वेद तथा पाशुपत आगमों को समान रूप से प्रमाण माना था,[26] जबकि शंकर (भाष्य 2.2.1-45) ने स्पष्ट शब्दों में इन्हें अवैदिक घोषित किया था। इनसे पूर्व श्रीयामुनाचार्य ने आगम-प्रामाण्य में तथा इनके अनन्तर वेदान्तदैशिक ने पांचरात्र-रक्षा में एवं भट्टारक वेदोत्तम ने तन्त्र-शुद्धि में वैष्णवागमों के प्रामाण्य का निरूपण किया है। नवम शताब्दी के काश्मीरी जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी (चतुर्थ आह्निक) में चार्वाक को छोड़कर जैन, बौद्ध, शाक्तादि आगमों की प्रामाणिकता परमेश्वर-प्रणीत, शिष्ट-परिगृहीत आदि कारणों से मानी है।[27] कुल्लूक भट्ट ने मनुस्मृति (2.1) की टीका में वैदिक और तांत्रिक रूप में दो प्रकार की श्रुतियों का प्रतिपादन किया है—श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च। भास्करराय ने तन्त्र का अन्तर्भाव धर्मशास्त्र या स्मृति में करते हुए मनु आदि द्वारा प्रणीत स्मृतियों को कर्मकाण्ड का अंग एवं तन्त्रों को ब्रह्मकाण्ड का अंग माना है।[28] ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य में श्रीकंठाचार्य ने इसके विपरीत शैवागमों की भांति वेद को भी शिवागम माना है। अंतर केवल इतना है कि वेद त्रैवर्णिक है और तन्त्र सार्ववर्णिक। दोनों शिवप्रोक्त होने के नाते स्वतःप्रमाण हैं।[29] श्रीकंठभाष्य की शिवार्कमणिदीपिका व्याख्या में अधिकारि-भेद से आगम को वैदिक और अवैदिक रूप में मानते हुए भी दोनों को समान रूप से प्रामाणिक माना है। नीलकंठ शिवाचार्य ने क्रियासार (भा० 1, श्लोक 30-32) में निगम-आगम दोनों को परम आप्त शिव द्वारा प्रसूत मानते हुए शैवागमों को वेद से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। श्रीपतिपण्डित ने ब्रह्मसूत्र (1.1.3.3) पर अपने श्रीकरभाष्य (भाग 2, पृ० 37) में शिव के सद्योजात, वामदेव, अघोर,

तत्पुरुष नामक मुखों में से प्रथम चार से चार वेदों की तथा आगमों की ईशान-मुख से उत्पत्ति मानी है —"तस्मान्निगमादीनामपौरुषेयत्वं ईश्वरकार्यत्वं च युक्तमेव।" अप्पयदीक्षित ने शिवतत्त्वविवेक में शैवागमों को अन्य आगमों की अपेक्षा श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है—"शैवागमानामेव सर्वागमेभ्यो बलवत्तरव्यवस्थितेः।" क्रियासार में आगमों का श्रौत (वेदानुकूल) और अश्रौत (वेदविरुद्ध) में विभाजन करते हुए तन्त्रों की निन्दा को अश्रौत आगम तक सीमित रखा है। कामिकागम में भी अश्रौत आगमों के अनुसरण का निषेध है। अरुलनन्दि शिवाचार्य ने शैवागम को सिद्धान्त और शेष शास्त्रों को पूर्वपक्ष माना है। अभिनवगुप्त ने न केवल तान्त्रिक सम्प्रदायों को अपितु वेद को भी शिव से उद्भूत मानने के कारण किसी भी शास्त्र की निन्दा न करने का मत, स्वच्छन्दतन्त्र का उल्लेख करते हुए, प्रकट किया —"सांख्यं योगं पांचरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत्। यतः शिवोद्भवाः सर्वे इति स्वच्छन्दशासने॥" (तन्त्रालोक, 35, 36)। इसी का समर्थन उन्होंने अन्यत्र (वही, 35, 26-27) भी किया है। सभी शास्त्रों को समान रूप से आदरणीय मानने पर भी यह कहना पुनरुक्ति ही होगी कि वे स्वयं शैवशास्त्रों की श्रेष्ठता स्वीकार करते हैं और उनमें भी कुल (त्रिक) को सर्वोत्तम मानते हैं।

स्वच्छन्दतन्त्र में ज्ञानरूप आगम को प्रष्टा तथा वक्ता (भैरवी-भैरव) का पारस्परिक अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव माना है जो टीकाकार क्षेमराज के अनुसार योगि-प्रत्यक्ष के समान है।[30] अभिनव ने इसी को शब्दान्तर से पुरातन समस्त व्यवहार की अविगीत प्रसिद्धि कहा है और यह प्रतिपादित किया है कि समग्र व्यवहार प्रत्यक्ष अथवा अनुमान पर नहीं, अपितु शब्दात्मिका प्रसिद्धि या आगम पर आश्रित है। शिशु की प्रथम प्रवृत्ति हो या युवा की, वह पूर्वकालिक संस्कार पर निर्भर है, न कि प्रत्यक्ष में उपलब्ध वस्तु अथवा अन्वयव्यतिरेकरूप अनुमान पर।[31] यह प्रसिद्धि ही परम्परा या शास्त्र का सहारा लेकर लोक-व्यवहार को चलाती है।[32] अविगीत शब्दात्मिका प्रसिद्धि प्रमाता का स्वभाव है, इसी कारण वह व्यवहार में पग-पग पर शंका और विचिकित्सा से ग्रस्त नहीं होता है। आगम या प्रसिद्धि के एक होने पर भी धर्मार्थकाममोक्ष की पूर्णता या अपूर्णता के विभिन्न फलों के कारण, अधिकारी, विषयभेद, स्वकीय और परकीय आदि भेदों के कारण एक आगम या शास्त्र अनेक हो जाते हैं।[33] इन आगमों में परस्पर भेद होने पर भी उपदेष्टृ-भेद, अधिकारिभेद, विषयभेद, फलभेद आदि को प्रामाणिकता का आधार मानना चाहिए, नित्यता या अविसंवादिता को प्रामाण्य का आधार नहीं माना जा सकता। समान रूप से प्रमाण होने पर भी ऊर्ध्व-अधर-भाव से आगम-विशेष में उत्कर्ष का तर-तम भी माना जा सकता है। इस प्रकार प्रत्येक शास्त्र या आगम विश्वात्मिका संवित् का शब्दात्मा विमर्श है, विमर्श परमेश्वर का स्वभाव है, जगत की समग्र वस्तुओं और उनमें विद्यमान कर्मफल-सम्बन्ध के वैचित्र्य का विमर्श करना ही आगम या शास्त्र है, यद्यपि समस्त

शास्त्रसमूह एक अधिकारी की दृष्टि से एक प्रकार का फल देता है पर परमेश्वर की नियति शक्ति का यह प्रभाव है कि संसारी लोगों की प्रवृत्ति या शास्त्रनिष्ठा खण्ड-खण्ड में ही हो पाती है।[34] आगम-प्रामाण्य के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त का यही प्रमुख प्रतिपाद्य है। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमांजलि के प्रारम्भ में लोकायत, बौद्ध, जैन, पाशुपत आदि सभी को ईश्वरवादी सिद्ध किया है। भगवद्गीता के विभूतिवाद का भी यही तात्पर्य है जिसमें विभूतिमान्, श्रीसम्पन्न एवं अर्जित प्रत्येक सत्त्व को परमेश्वर के अंश से उद्भूत माना है। ज्ञान-परम्परा के सनातन प्रवाह की संस्कृति में शब्दात्मक विमर्श (वाग्रूपा चेतना) की अनन्त अभिव्यक्तियों की स्वीकृति है। आत्मालोचन और घात-प्रतिघात से विकसित चेतना के विभिन्न आयाम सत् की ख्याति हैं, असत् की नहीं। यही विभिन्न निगम, आगम, इतिहास-पुराण, स्मृति तथा विभिन्न दर्शनशास्त्रों की आप्तता या प्रामाणिकता का रहस्य है। जो आगम को वेद के समान प्रामाणिक मानते हैं वे उनके स्वतःप्रामाण्य की प्रतिष्ठा करते हैं और जो उन्हें स्मृतिरूप मानते हैं, वे उनका परतः प्रामाण्य मानने को बाध्य हैं। कविराज गोपीनाथ जी के अनुसार नयोत्तर, शिरश्छेद, विनयशील, सम्मोह नामक तन्त्र-ग्रन्थ कम्बोडिया में लगभग बारह सौ वर्ष पूर्व भारत से पहुंचे थे। ई० आठवीं शती में लिखित तन्त्रसंहिता की प्रति नेपाल दरबार पुस्तकालय में है। कुब्जिकातन्त्र बाहर से आया था। वसिष्ठ उपाख्यान के अनुसार चीन या महाचीन से उपासना-क्रम भारतवर्ष में लाया गया (द्र० तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० 23)। यह चीनाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यहां चीन से अभिप्राय तिब्बत से है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारत में ही नहीं, अपितु अन्य देशों से तान्त्रिक ग्रन्थों तथा साधना-पद्धतियों का आयात-निर्यात हुआ है। जो भी हो, आगमोक्त तत्त्व की प्राचीनता निःसंदिग्ध है, किन्तु आगम-ग्रन्थों का प्रणयनकाल ई० चतुर्थ-पंचम शताब्दी से पूर्व नहीं माना जा सकता। अनेक तन्त्रों और संहिताओं का प्रणयन ई० 10वीं शताब्दी के बाद भी निरन्तर होता रहा है और वे सम्प्रदायविशेष की उपासना-पद्धति का, तदनुकूल व्रत, उत्सव, त्यौहार, मन्त्र आदि का तनन करते रहे हैं। अनेक आगमग्रन्थ लुप्त होते रहे हैं और अनेकों में 'ग्रन्थान्तरप्रक्षेप', 'ग्रन्थविपर्यास', 'पाठविपर्यास' आदि होते रहे हैं जैसा कि क्षेमराज ने स्वच्छन्दोद्योत नामक (14.19) स्वच्छन्द-तन्त्र (या अघोरेशतन्त्र) की टीका में स्पष्ट किया है।[35] आगमविशेष की अपव्याख्याएं भी प्रचलित थीं—जैसे कि स्वच्छन्दतन्त्र की भेदवादी सिद्धान्तागम के अनुसार व्याख्या।[36] आगमों की भाषा सरल होने पर भी, लुप्त अर्थ-परम्परा तथा सांकेतिक शब्द-प्रयोग के कारण और अनेकत्र पाठलोप या अपरिष्कृत संस्करण के कारण दुरूह है। इनमें अधिकांशतः अनुष्टुप् या आर्या छंदों का प्रयोग है तथा अनेक आर्ष प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। आगमों के पहले अत्यन्त विस्तार का कलियुग में अल्पमेध व्यक्तियों के लिए, संक्षिप्त संग्रह होने के चर्चा भी कई आगम-ग्रन्थों में

उपनिबद्ध है।[37] यह भी कहा जाता है कि श्रुति सतयुग, स्मृति त्रेता, पुराण द्वापर के लिए अधिक उपयोगी, प्रभावी और मान्य हैं तो कलियुग में तन्त्र ही अधिक प्रभावी है।[38] पुराणों में लोकप्रसिद्ध सामान्य धर्म का, व्रत उपवास, पर्व का विभिन्न आख्यानों के साथ वर्णन है, उसमें प्रतिपादित साधना गुह्य नहीं है, तन्त्र आगम में प्रतिपादित साधनाएं, बौद्ध, जैन, शैव, शाक्तादि सभी सम्प्रदायों में गुह्य हैं और यह निरन्तर सुनने को मिलता है कि यह मन्त्र या उपासना-विशेष या क्रिया गुह्यातिगुह्य है।[39] इसका एक कारण साधना का लोक-व्यवहार से विरुद्ध होना है, वामाचार इसका विशेष उदाहरण है। स्थानांगसूत्र (4.4) में मैथुन से आनन्द-प्राप्ति करने वालों का संकेत है; उत्तराध्ययनसूत्र में आरोग्यकर यन्त्रों का उल्लेख है। सूत्रकृतांग (2.2) में जादू के प्रयोग करने वालों का उल्लेख है। पालि साहित्य में बहुत से तान्त्रिक प्रयोगों का उल्लेख या संकेत है। इसके लिए पंचकामगुणदिठ्ठधामनिबानपाद, चुल्लधम्मसमाधानसुत्त (भा० 1, पृ० 305), चुल्लवग्ग मज्झिमनिकाय (5.1.78), ब्रह्मजालसुत्त (21) आदि द्रष्टव्य हैं। विनय (2.249), अंगुत्तर (2.147) में आगम शब्द का प्रयोग रूढ़ि या परम्परा के अर्थ में प्राप्त होता है। यह प्रयोग आगे चलकर मिलिन्द (215, 414) तथा महावस्तु (2.21) में भी उपलब्ध होता है। रिज डेविड्स के अनुसार, पंचम शताब्दी से आगम शब्द सुत्तपिटक के विभाग का द्योतक हो गया जिसके लिए पहले निकाय शब्द का प्रयोग होता था। महाभारत (अनुशासन पर्व, अ० 163) में धर्म का निर्णय करने में प्रत्यक्ष और आगम में से किसे मूल माना जाय-- इस प्रश्न को लेकर युधिष्ठिर की विभिन्न शंकाओं का भीष्म ने समाधान करते हुए आगमनिष्ठ सत्पुरुष को धर्मज्ञ बताया है।

तान्त्रिक साहित्य का वाङ्मय अत्यन्त विशाल है। अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन (VI 3, पृ. 198-212) में संग्रहीत वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदाय-ग्रन्थों की सूची एवं शाहजहां के समकालीन कवीन्द्राचार्य सरस्वती द्वारा उपनिबद्ध तान्त्रिक ग्रन्थों की सूची में तन्त्र, आगम, संहिता, मन्त्र, शास्त्र आदि ग्रन्थों की नामावली तथा म. म. गोपीनाथ कविराज के 'तान्त्रिक साहित्य' में संग्रहीत सैकड़ों तान्त्रिक ग्रन्थों के विवरण से तान्त्रिक वाङ्मय की विशालता की कल्पना की जा सकती है। ज्ञानसत्ता के त्रिविध भेद की सम्भावना को स्वीकार कर आगमों के त्रिविध मूल भेद माने गये हैं—भेद-प्रधान, भेदाभेद-प्रधान एवं अभेद-प्रधान आगम। भेद-प्रधान तन्त्र का रुद्र से, भेदाभेद का शिव से तथा अभेद-प्रधान तन्त्र का आविर्भाव भैरव से माना गया है। इन्हीं को क्रमशः रौद्रागम, शैवागम व भैरवागम कहा गया है।[40] भेद-प्रधान रौद्रागम अठारह हैं,[41] भेदाभेद (द्वैताद्वैत) प्रधान, शैवागम दस[42] एवं अभेद-प्रधान भैरवागम चौंसठ हैं। तान्त्रिक ग्रन्थों में उपलब्ध विभिन्न सूचियों में अधिकांशतः समानता होने पर भी कहीं-कहीं अन्तर भी है, जैसे कि

तन्त्रालोक में जिन अठारह द्वैताद्वैत तन्त्रों का सन्दर्भ है उनमें से चन्द्राक्षु, विमल, विसर, सौरभेय नामक आगम-ग्रन्थ अन्य सूचियों में सम्मिलित नहीं हैं। इसी प्रकार श्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार जयरथ ने जिन दस शिवागमों का उल्लेख किया है उसमें सम्मिलित मौकुट आगम अन्य सूचियों में सम्मिलित न होकर अठारह भेद-प्रधान आगमों में सम्मिलित है। अद्वैत-प्रधान भैरवागम 64 हैं। वे तन्त्र, यामल, मत, मंगल, चक्राष्टक, बहुरूप, वागीश, शिखाष्टक के आठ भेदों में विभाजित हैं। इनमें से प्रत्येक के आठ भेद हैं। इस प्रकार कुल (8 × 8) चौंसठ भेद हैं, विभिन्न ग्रन्थों में चौंसठ तन्त्र-ग्रन्थों की सूचियां भिन्न-भिन्न हैं।[43] इनके भी अनेक भेदोपभेद थे, जिनमें से अनेक कालान्तर में लुप्त हो गये और जिनकी कल्पना उसी प्रकार करनी पड़ी, जैसे कि स्मृतिशास्त्र में अष्टकादियाग की। जैसे (शाखा-भेद के उच्छिन्न होने पर) मूल श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है, उसी प्रकार लुप्त आगम-ग्रन्थों की कल्पना गुरु-परम्परा के आधार पर की जाती है।[44] अभिनवगुप्त ने अपने विश्वकोषात्मक ग्रन्थ तन्त्रालोक में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में जिन आगम-ग्रन्थों के आधार पर विवेचन किया है, उनकी संख्या बहुत विशाल है।[45] पं. ब्रजवल्लभ द्विवेदी ने लगभग चार सौ लुप्त आगमों अथवा आगमकारों के अधुना उपलब्ध (प्रकाशित अथवा अप्रकाशित) वचनों का लुप्तागम-संग्रह (दो भागों) में संकलन किया है, वह भी आगमों की विशाल संख्या का और उनके लोप की व्यथा का परिचायक है।[46]

अभिनवगुप्त (तन्त्रालोक, आह्निक 36, पृ. 381-8) के अनुसार आगम 9 करोड़ श्लोकों में व्याप्त था। इसका प्रत्येक युग में ह्रास होता गया। रावण ने इनको शक्र से प्राप्त किया, बाद में वही विभीषण, राम, लक्ष्मण, सिद्ध, दानव, गुह्यक तथा योगियों को क्रमशः प्राप्त हुआ। कलियुग के उत्कर्ष होने पर सिद्ध इन तन्त्रग्रंथों के साथ अन्तर्हित हो गये। कैलास पर भ्रमण करते हुए श्रीकण्ठ (शिव) ने लुप्त शैवागमों की शिक्षा दुर्वासा को दी, जिन्होंने समस्त शैवागमों का त्रिविध विभाग कर अपने मानस पुत्र त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ को आगमों की शिक्षा दी। यह तान्त्रिक परम्परा की प्राचीनता घोषित करने की सामान्य पद्धति है जो अन्य शास्त्रों में भी प्राप्त होती है।

आगमों के स्वरूप, प्रामाण्य, प्राचीनता और परिमाण के बारे में यह अत्यन्त संक्षिप्त उल्लेख है। काश्मीर की ऐतिहासिक तान्त्रिक ग्रंथ-परम्परा का प्रारम्भ सोमानन्द से होता है।

काश्मीर का तान्त्रिक साहित्य

काश्मीर शैवदर्शन जिन आगम-ग्रंथों पर मुख्यतः आधारित है, उनमें से अनेक अप्राप्य हैं, जैसे कि ब्रह्मयामल, देवीयामल, दीक्षोत्तर, कुलगह्वर, गमशास्त्र, सिद्ध

योगीश्वरी, नामक, मालिनी-विजय (यह मालिनीविजयोत्तर से भिन्न है), मातंग, रत्नमाला, सारशासन, सिद्धिशासन, त्रिकशासन, त्रिशिरस, योगसंचर। जो आगम-ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें मालिनीविजयोत्तर तन्त्र, स्वच्छन्दतन्त्र,[47] परात्रींशिका,[48] नेत्रतन्त्र,[49] मृगेन्द्रतन्त्र[50] तथा विज्ञानभैरव[51] प्रमुख हैं। शिवशूत्र वसुगुप्त (9वीं शती ई. का प्रारम्भ) को स्वप्न में मिले थे अथवा महादेवक नामक पर्वत की शिला पर उत्कीर्ण रूप में प्राप्त हुए थे, अतः शिवसूत्र को आगमकल्प माना जा सकता है।[52] इसी को व्यवस्थित शैवदर्शन का प्रथम सूत्रात्मक ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। इसके सतत्तर सूत्रों में क्रमशः शाम्भवोपाय, शाक्तोपाय तथा आणवोपाय का विवेचन है और यह मूलतः योगग्रंथ है। भट्टकल्लट ने (नवम शती ई. का मध्य भाग) जो वसुगुप्त के शिष्य थे, तीन निष्यन्दों में विभाजित बावन श्लोकों में स्पन्दतत्त्व का विवेचन स्पन्दकारिका में किया है।[53] शिवशक्तिसामरस्य में अहंविमर्शरूपा शक्ति स्पन्द है और शिव का यही स्पन्द जगत् के उन्मेष एवं निमेष का हेतु है। स्पन्द शक्ति में ज्ञातृत्व, कर्तृत्व रूप स्वातन्त्र्य सन्निहित है। इसी स्पन्द को चमत्कार, उच्छलता, परमशिव के स्वरूप में होने वाली ऊर्मि, मत्स्योदरी आदि नामों से आगमशास्त्रों में कहा गया है। स्पन्दकारिका भी शाक्त-योग साधना का ग्रन्थ है।

सोमानन्द (नवम शती ई. का अन्तिम भाग) की शिवदृष्टि अद्वैत शैवदर्शन का सांगोपांग विवेचन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। इसका सम्बन्ध त्र्यम्बक मठिका से था। यह सात आह्निकों में, 724 श्लोकों में निबद्ध है। प्रथम आह्निक में परमतत्त्व (शिव) के स्वरूप, उसके विश्वात्मक होने, शैवकारणवाद, सृष्टि-प्रक्रिया आदि का विवेचन है। द्वितीय आह्निक में संस्कृत के व्याकरण-दर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन है। इसमें विवर्तवाद का खण्डन प्रस्तुत किया गया है। भतृहरि के पश्यन्ती को ही परा मानने का खण्डन किया गया है तथा अविद्या-सम्बन्धी मत के सम्बन्ध में भी आलोचना प्रस्तुत की गयी है। तृतीय आह्निक में भट्ट प्रद्युम्न द्वारा स्वीकृत शक्तिवाद (शिव की अपेक्षा शक्ति की प्रधानता के मत) का खण्डन किया गया है। शिवाद्वयवाद के विरोधी 21 मतों का खण्डन भी इसमें प्राप्त होता है। चतुर्थ आह्निक में शिवाद्वयवाद का समर्थन किया गया है, दर्शनान्तर की शंकाओं का समाधान तथा शैव सर्वेश्वरवाद, जिसके अनुसार सब-कुछ शिव ही हैं और शिव से ही सब-कुछ का आभासन होता है, को प्रस्तुत किया गया है। इसी में शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का तथा शिवाद्वयवाद के वास्तविक एवं पूर्ण अद्वैतवाद होने का प्रतिपादन किया गया है। पंचम से सप्तम आह्निक तक उत्पल की वृत्ति उपलब्ध नहीं है, अतः ग्रंथ को स्पष्ट समझ पाना कठिन है। पंचम आह्निक में सर्वेश्वरवाद का ही विस्तार से मण्डन किया गया है। षष्ठ आह्निक में दूसरे दर्शनों पर विचार प्रस्तुत किया गया है, उनके परमतत्त्व

सम्बन्धी मतों की मीमांसा की गयी है। वेदान्त के दस सम्प्रदायों की मूल धारणाओं की व्याख्या और विवेचना की गयी है। इसी प्रकार कुछ ज्ञात और कुछेक अज्ञात सम्प्रदायों—जैसे कि कालकारणिक एवं सहधामवादी—का विवेचन एवं खण्डन प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार शैव द्वैतवाद एवं द्वैताद्वैतवाद का भी खण्डन किया गया है। सप्तम आह्निक में मोक्ष-साधक तान्त्रिक सिद्धान्तों एवं साधनाओं का तथा शैवयोग और उसके फल का विवेचन किया गया है। इसी के अन्त में सोमानन्द ने त्र्यम्बकादित्य प्रथम से लेकर अपने समय तक की शैवदर्शन की आचार्य-परम्परा का उल्लेख किया है। उनके अनुसार आत्मा ही शक्तित्रितय-सम्पन्न शिव है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन् निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥

—शिवदृष्टि, 1.2

सोमानन्द के प्रमुख शिष्य, उदयाकर एवं वागीश्वरी के पुत्र, मूलतः लाटदेशीय उत्पलदेव का स्थितिकाल नवम शताब्दी का अन्तिम भाग है। इनकी प्रसिद्ध कृति ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा है। शिवदृष्टि तथा ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में नाम, शैली एवं आकार का भेद अवश्य है किन्तु उनका प्रतिपाद्य एक ही है। उत्पल ने स्वयं कहा है कि शिवदृष्टि में उनके महागुरु ने जो कुछ भी बताया है, उसी नवीन मार्ग को उन्होंने प्रकट किया है। अभिनवगुप्त भी ईश्वरप्रत्यभिज्ञा को सोमानन्द की प्रज्ञा का प्रतिबिम्ब मानते हैं। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में चार प्रकरण (अधिकार) हैं—ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार, आगमाधिकार तथा तत्त्वसंग्रहाधिकार। इन्हें विमर्शिनी के अनुसार पन्द्रह आह्निकों में और विवृतिविमर्शिनी के अनुसार सोलह आह्निकों में विभाजित किया गया है। अभिनवगुप्त के द्वारा अनेकशः उद्धृत उत्पलदेव के अन्य ग्रंथ हैं—ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति, ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति, अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, सम्बन्धसिद्धि, शिवस्तोत्रावली। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्पलदेव ने और भी कुछ ग्रन्थ लिखे होंगे क्योंकि अभिनवगुप्त अनेकधा उनके मतों का उल्लेख करते हैं जो उनके उपलब्ध ग्रंथों में प्राप्त नहीं हैं।

उत्पल के साक्षात् शिष्य का पता नहीं है जिन्होंने ग्रन्थ का निर्माण किया हो, किन्तु लक्ष्मणगुप्त ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने साधना-प्रधान एवं तर्क-प्रधान दोनों धाराओं का समन्वय किया था और वे अभिनवगुप्त के गुरु थे। इस तरह अभिनवगुप्त उत्पलदेव के प्रशिष्य हैं।

अभिनवगुप्त (10वीं शती ई०) ने लगभग चालीस ग्रन्थों की रचना की थी। ध्वन्यालोक पर उनकी लोचन टीका एवं नाट्यशास्त्र पर अभिनवभारती आगमेतर विद्वानों में भी प्रसिद्ध है। अभिनवगुप्त की दार्शनिक कृतियों में **तन्त्रालोक** सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण एवं विशालकाय है। यह शैवदर्शन, आचार, साधना, योग एवं

तान्त्रिक कर्मकाण्ड का विश्वकोष है। तन्त्रालोक के प्रमुख विषयों का सार अत्यन्त संक्षेप में **तन्त्रसार** में प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार आचार्य शंकर ने चर्पट-मंजरी आदि छोटे-छोटे ग्रन्थों का प्रणयन कर अद्वैत-दर्शन का प्रचार किया था, उसी प्रकार अभिनवगुप्त ने शैवदर्शन के प्रचार के लिए छोटी-छोटी अनेक रचनाएं कीं—जैसे कि परमार्थसार, बोधपंचदशिका, परमार्थचर्चा, परमार्थद्वादशिका, महोपदेशविंशतिकम्। प्रारम्भ से ही दार्शनिक ग्रन्थों के साथ-साथ काव्यमयी वाणी में स्तोत्र के रूप में अपने भाव, साधना तथा दर्शन को अभिव्यक्त करने के लिए स्तोत्र लिखने की परम्परा रही है। भट्टनारायण की स्तवचिन्तामणि व उत्पल की शिव-स्तोत्रावली इसके रमणीय उदाहरण हैं। इसी परम्परा में अभिनवगुप्त के क्रमस्तोत्र, भैरवस्तव, अनुत्तराष्टिका, अनुभवनिवेदनस्तोत्र, देहस्थदेवता-चक्रस्तोत्र आदि उल्लेखनीय स्तोत्र-ग्रन्थ हैं। अभिनवगुप्त के टीका-ग्रन्थों में ईश्वरप्रत्यभिज्ञा पर विमर्शिनी तथा विवृतिविमर्शिनी टीकाएं, परात्रींशिका पर विवरण नामक, शिव-दृष्टि पर अवलोचन (अप्राप्य) व भगवद्गीतार्थ-संग्रह उल्लेखनीय हैं। क्रमस्तोत्र पर क्रमकेलि नामक टीका अभी तक अप्राप्य है। सोमानन्द, उत्पल एवं अभिनवगुप्त काश्मीर शैवदर्शन की मुनित्रयी है। अभिनवगुप्त के प्रधानशिष्य क्षेमराज (11वीं शती ई.) थे, जिनके मौलिक ग्रन्थों में प्रत्यभिज्ञाहृदय प्रमुख है। पराप्रवेशिका तथा बोधविलास, बालावबोधाय लिखित छोटी-छोटी रचनाएं हैं। उनके द्वारा प्रणीत टीका-ग्रंथ हैं— शिवसूत्रविमर्शिनी, स्पन्दसन्दोह, स्पन्दनिर्णय, स्तवचिंतामणि-विवृति, विज्ञानभैरव-उद्योत (खण्डित), नेत्रतन्त्रोद्योत, शिवस्तोत्रावली-टीका, साम्बपंचाशिका-टीका आदि। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने गुरु अभिनवगुप्त के निर्देश से क्षेमराज ने काश्मीर में प्रचलित एवं मान्य आगम, स्तोत्र व दर्शन के ग्रंथों की अद्वैतपरक व्याख्या (टीका) की थी।[54] क्षेमराज के शिष्य योगराज (11वीं शती ई० का उत्तरार्ध) ने परमार्थसार पर टीका लिखी थी। केरल के निवासी मधुराज (11वीं शती ई०) ने अभिनवगुप्त से शिक्षा प्राप्त कर गुरुनाथ-परामर्श लिखा था। इनके पुत्र वरदराज क्षेमराज के शिष्य थे। इन्होंने शिवसूत्र पर वार्तिक लिखी थी। तन्त्रालोक की विवेकटीका तथा वामकेश्वरमत की टीका का प्रणयन करने वाले जयरथ (12वीं शती ई०) के हैं, और इसी काल में महाराष्ट्र के एक अत्यन्त प्रमुख आचार्य महेश्वरानन्द की महाराष्ट्रीय अपभ्रंश में लिखित महार्थ-मंजरी कुलसम्प्रदाय की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। क्षितिकण्ठ (12वीं शती ई० का उत्तरार्ध) का काश्मीरी अपभ्रंश में लिखित महानयप्रकाश कुलसम्प्रदाय का अनुसरण करता है। 13वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक कोई महत्त्वपूर्ण रचना या टीका प्राप्त नहीं होती। शाहजहां तथा औरंगजेब के समकालीन साहिबकौल सिद्ध पुरुष थे। इन्होंने अपने **देवीनामविलास** में वेदान्त एवं शिवाद्वयवाद का समन्वय प्रस्तुत किया है। उनकी 'आत्मकथा' काश्मीरी

भाषा में लिखित है। उनकी अन्य कृतियां कल्पवृक्षप्रबन्ध, सच्चिदानन्दवल्ली तथा शिवजीवदशक हैं। विज्ञानभैरव के टीकाकार शिवोपाध्याय, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी की टीका **भास्करी** के रचयिता भास्करकण्ठ 17वीं शताब्दी की काश्मीर शैव-परम्परा के प्रधान आचार्य हैं। आधुनिक काश्मीर में जिस महान् विभूति और उसके वचनों की सबसे अधिक मान्यता है, वे हैं—लल्लदद (लल्लेश्वरी)। उनके वचन काश्मीरी भाषा में लिखित हैं जिनका अनुवाद भास्करकण्ठ ने 'लल्लेश्वरीवाक्यानि' के नाम से किया था। शिवोपाध्याय ने अपने मौलिक ग्रन्थ **श्रीविद्या** में तथा विज्ञानभैरव की अपनी उद्योत टीका में आचार्य शंकर का बहुत गुणगान किया है और काश्मीर शैवदर्शन की वेदान्तपरक व्याख्या भी की है। इस प्रकार 8वीं शताब्दी से प्रारम्भ कर 18वीं शताब्दी तक ग्रन्थ-रचना का क्रम निरन्तर चलता रहा है। यद्यपि आधुनिक युग में काश्मीर शैवदर्शन का अंग्रेजी, हिन्दी, फ्रेंच, जर्मन आदि भाषाओं के माध्यम से विवेचन प्रमुख हो गया है। इस दृष्टि से म० म० गोपीनाथ कविराज, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय आदि का नाम उल्लेखनीय है, तथापि यह संस्कृत-ग्रन्थ-परम्परा के सौभाग्य की ही बात है कि श्री अमृतवाग्भवाचार्य,[55] रामेश्वर झा (पूर्णताप्रत्यभिज्ञा), बलजिन्नाथ पण्डित[56] आदि ने संस्कृत में ग्रन्थ-लेखन की परम्परा को सुरक्षित रखा है, और उसमें कुछ जोड़ा भी जाता रहा है। प्राचीन अनुपलब्ध तान्त्रिक साहित्य एवं दर्शन के अनुसंधान एवं प्रकाशन की ओर इधर देश-विदेश में अधिक ध्यान दिया जा रहा है। संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ (इलाहाबाद), अभिनवगुप्त संस्थान (लखनऊ विश्वविद्यालय), प्राच्यविद्या के फ्रांसीसी शोध-संस्थान (पाण्डिचेरी), ईश्वर आश्रम, श्रीराम-त्रिकआश्रम, श्रीविद्याधर आश्रम (श्रीनगर) आदि स्थानों में इस दर्शन का अध्ययन, अनुसंधान, प्रकाशन आदि का कार्य निरन्तर चल रहा है। इस प्रकार प्रागैतिहासिक काल तथा वैदिक काल से जिस शैव धर्म के बीज उपलब्ध होते हैं, उसके आगम-ग्रंथों की परम्परा छठी शताब्दी से और दार्शनिक शास्त्रों की रचना 8वीं शताब्दी ई. से 20वीं शताब्दी तक किसी-न-किसी रूप में निरन्तर चलती आ रही है। सायण ने सर्वदर्शनसंग्रह में शैवदर्शन (प्रत्यभिज्ञा) के अनेक सम्प्रदायों का संग्रह किया है। और दर्शन के आधुनिक इतिहासकार अपने ग्रन्थों में इसे स्थान दे रहे हैं।

काश्मीर शैवशास्त्र का विभाग क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञा में किया जाता है, कुछ विद्वान् स्पन्द को भी एक भिन्न शाखा मानते हैं। वस्तुतः इन सभी को त्रिक दर्शन का ही भेद मानना चाहिए।[57] त्रिक का अर्थ है तीन का समूह; क्रम, कुल, प्रत्यभिज्ञा, मेरी दृष्टि में प्रथम त्रिक है। तान्त्रिक दर्शन में साधना और दर्शन का द्वैत नहीं है, अतः क्रम और कुल को साधना-प्रधान मानकर प्रत्यभिज्ञा से उसका नितान्त भेद करना अनुचित है। यह सही है कि प्रत्येक शाखा में साधना-भेद,

दृष्टि-भेद तथा ग्रन्थ-भेद अवश्य होता है, किन्तु काश्मीर शैव दर्शन की विकास-यात्रा में तीनों मिलकर चले हैं और इसका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है अभिनवगुप्त का **तन्त्रालोक**। काश्मीर की भूमि में द्वैत, द्वैताद्वैत तथा वेदान्ती अद्वैत को ईश्वराद्वयवाद, परमाद्वैत अथवा महाद्वैत के रस में बदलने की शक्ति थी, जो सिद्धों व सूफियों की साधना एवं दर्शन में निरन्तर प्रकट होती रही है। लल्लद योगिनी भी थी और सूफी भी। लक्ष्मण जू ब्रह्मचारी आज भी काश्मीर की महान् विभूति हैं जो न केवल साधना अपितु शास्त्रज्ञान के लिए भी अत्यन्त विख्यात हैं। उनके गुरु योगी ईश्वरस्वरूप थे तथा उनके भी गुरु महात्मा श्रीरामजी और महात्मा श्री महताबकाक थे। राजानक महेश्वर ने शैवशास्त्र तथा योग की दीक्षा ईश्वरस्वरूप को दी थी। इस प्रकार साधना एवं दर्शन की परम्परा काश्मीर में आज तक जीवित है। निष्कर्षतः—

समस्तशास्त्रकथितवस्तुवैविक्त्यदायिनः।
शिवागमस्य सर्वेभ्योऽप्यागमेभ्यो विशिष्टता॥

—तन्त्रालोक, 22,8-9

सन्दर्भ

1. इह तावत्समस्तोऽयं व्यवहारः पुरातनः।
   प्रसिद्धिमनुसंधाय सैव चागम उच्यते॥—तन्त्रालोक, 35, 1-2
2. प्रसिद्धिश्चाविगानोत्था प्रतीतिः शब्दनात्मिका।—वही, 35, 19
3. विमर्श आगमः सा सा प्रसिद्धिरविगीतिका।—वही, 35, 9 पर विवेक।
4. ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदपि आगमहेतुकम्।—वाक्यपदीय
5. विमर्शरूपिणी शक्तिरस्य विश्वगुरोः सदा।
   परिस्फुरति सैकापि नाना-भावार्थरूपिणी॥
6. (क) गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः।
   प्रश्नोत्तरपदैर्वाक्यैः तन्त्रं समवतारयत्॥
   (ख) प्रकाशात्मकः परशिवोऽहमेव विश्वानुग्रहपरः परापश्यन्ती—मध्यमा-वैखरी-क्रमेण व्यापृत्य विमर्शांशेन प्रकटीभूत्वा प्रकाशांशेन प्रतिवचन-दातापि सन् तन्त्रं समवतारयामि।
7. (क) तस्मात्सम्पूर्णसम्बोधपराद्वैतप्रतिष्ठितम्।
   यः कुर्यात्सर्वतत्त्वार्थदर्शी स पर आगमः॥—तन्त्रालोक, 35, 17 पर विवेक।

(ख) एक एवागमश्चायं विभुना सर्वदर्शिना ।
दर्शितो यः प्रवृत्ते च निवृत्ते च पथि स्थितः ।।—तन्त्रालोक, 35, 23
द्र. वही, 35, 30

8. द्र. स्व. त. 8/31, 11/45, 11/182
9. छन्दोलक्षणसंसिद्धमागम इत्यभिधीयते ।
10. आचारकथनाद् दिव्यगतिप्राप्तनिदानतः ।
महात्मतत्त्वकथनादागमः कथितः प्रिये ।।
11. सर्गश्च अतिसर्गश्च मन्त्रलक्षणमेव च ।
देवतानां च संस्थानं तीर्थानां चैव वर्णनम् ।।
तथैवाश्रमधर्मश्च मन्त्रसंस्थानमेव च ।
संस्थानं चैव भूतानां यन्त्राणां चैव निर्णयः ।।
उत्पत्तिर्विबुधानां च तरूणां कल्पसंज्ञितम् ।
संस्थानं ज्योतिषां चैव पुराणाख्यानमेव च ।।
कोषस्थकथनं चैव व्रतानां परिभाषणम् ।
शौचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणां च वर्णनम् ।।
हरचक्रस्य चाख्यानं स्त्रीपुंसोश्चैव लक्षणम् ।
राजधर्मो दानधर्मो युगधर्मस्तथैव च ।।
व्यवहारः कथ्यते च तथा चाध्यात्मवर्णनम् ।
इत्यादिलक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते ।। —महाविश्वेश्वरतन्त्र
12. सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ।।
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तं त्वागमं तद्विदुर्बुधाः ।। —पद्मसंहिता
13. द्विषट्सहस्रपर्यन्तं संहिताख्यं सदागमम् ।
ये चान्ये चान्तराला वै शास्त्रार्थेनाधिका शतैः ।।
सर्वेषां संहिता संज्ञा बोद्धव्या कमलोद्भव ! —पौष्करसंहिता
14. कीदृशं वै गुरुं विद्यात्साधकं च महेश्वर !
भयाभयप्रदातारं शिष्यं भूमिं च कीदृशीम् ।।
मन्त्राँश्चैव समासेन कालं चैव समासतः ।
यजनं हवनं चैव अधिवासं रजांसि च ।।
पंचगव्यं चरुं चैव दन्तकाष्ठं च मण्डलम् ।
दीक्षा चाध्वाभिषेकौ च समयान्साधनानि च ।। —स्वच्छन्दतन्त्र, 1, 8-10
15. द्र. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र 1. 8; 1.13
16. द्र. वही, प्रथम अधिकार ।

17. द्र० नवजीवन रस्तोगी, क्रम तान्त्रिसिज्म ऑव काश्मीर, पृ. 38-9.
18. दर्शनान्तरप्रणेतृमनीषया संसारनिबन्धनत्वेनोपकल्पितः शब्दस्पर्शादि-विषय-विक्षोभो जीवन्मुक्तिलक्षणाह्लादस्वभावं स्वात्मनो विमर्शं प्रत्युपायतयोपदिश्यते (महार्थमंजरी, परिमल, पृ. 14), ···अस्य चोपायोपेयभावस्य अव्यभिचारसामरस्योद्भावनाय (वही), ···यदिदं षडध्वोल्लाससमष्टिरूपस्य स्वशरीरस्यानुप्राणनतयावतिष्ठमानमविकल्पावस्थायां तदुत्तीर्णोल्लेखं च सत्प्रकाशविमर्शद्वितयमेलापलक्षणमन्तस्तत्त्वं हृदयमित्युच्यते (वही, पृ. 181), ···येन च क्षणमात्रानुबद्धेनापि जननमरणाद्यशेषोपद्रवव्युदासशाली जीवन्मोक्ष-लक्ष्मीमहोपभोगः संपद्यते (वही, पृ. 132),···अन्यशास्त्रविगर्हितानि महिला-मद्यमांसादीन्येव द्रव्याण्यस्मदुपास्यानां देवतानां सपर्यासु परिबर्हतयाभ्यर्हितानि इति (वही), ···येन मन्त्रात्मकैः शब्दैः परमेश्वर्युपासते। बाह्यानामान्तराणां च मन्त्राणामुज्ज्वलार्चिषाम्। वीर्यमेषैव बोद्धव्या पराहन्तामयी कला॥ (वही, पृ. 198-200),

पूजास्वरूपनिष्कर्षो देवताया निरूपणम्॥
चिन्तनं मन्त्रतत्त्वस्य वाग्वृत्तिस्फूर्तिनिश्चयः।
मुद्रारूपपरामर्शो विमर्शस्यात्मवर्तिनः॥ —वही, पृ. 20

19. द्र० विण्टरनिट्ज, हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिट्रेचर, भाग 1, एवं गोवर्द्धनराय शर्मा, भारतीय संस्कृति—पुरातात्त्विक आधार, पृ. 80-84। असुरों और देवों में परस्पर स्पर्धा थी, किन्तु दोनों में, प्रजापति की सन्तान होने के कारण, (देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याः—ब्राह्मणग्रन्थ) भ्रातृव्य-सापत्न सम्बन्ध था। इन दोनों के निकट सम्बन्ध के कारण वैदिक यज्ञ में प्रारम्भ से ही अवैदिक तत्त्व मिल गये थे। असुरों द्वारा रौहिण नामक अग्निवेदी के निर्माण (शतपथ-ब्राह्मण, 2.1.2.13-17) का प्रयत्न और इन्द्र द्वारा उस चित्र, ऊर्ध्वगामी रौहिण यज्ञवेदी को न बनने देना, अग्निचयन में इष्टकाओं (ईंटों) का उपयोग जो कन्वर्स (हिस्ट्री ऑव रिलीजन्स, खण्ड 14, 2.1974-75, पृ. 81) के अनुसार हड़प्पा-सभ्यता से ली गई थी (अग्निचयन के अतिरिक्त अन्यत्र इष्टका का प्रयोग नहीं है), सोम का अवैदिक (शूद्र, कौत्स) से खरीदा जाना (द्र० शतपथब्राह्मण, 111, 3.37 तथा तैत्तिरीयसंहिता 1.2.7), पुरूरवा के आख्यान (ऋग्वेद 10.95; 1, 31.4; शतपथब्राह्मण, 11.5.1.1-17) में गन्धर्वों से नये यज्ञ का विधान सीखना तथा एक के स्थान पर तीन अग्नियों की प्रकल्पना, सर्प ऋषि (अर्बुद, काद्रवेय, जरत्कर्ण—ऋग्वेद 10.76 तथा 10.94), श्येन, वज्र, इषु, आदि अभिचार, वैदिक यज्ञ संस्था में अवैदिक तत्त्वों के मिश्रण के प्रमाण हैं।
20. द्र० तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी; वैदिक संस्कृति का विकास, पृ. 279-80

21. (क) चत्वारि वाक्परिमिता पदानि—ऋग्वेद, 1.164.45
    (ख) अकारः सर्ववर्णाग्र्यः···अनयोः सामरस्यं तत्परस्मिन्नहमिति स्फुटम्··· अ इति ब्रह्म तत्रागतमहमिति—ऐतरेय आरण्यक, 2.3.8
    (ग) अकारो वै सर्वा वाक्—वही, 2.3.6
    (घ) वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता—तैत्तिरीयब्राह्मण, 2.8.8.4
    (ङ) छन्दः पुरुष इति यमवोचामक्षरसमाम्नाय एव तस्यैतस्याकारो रसः—ऐतरेय आरण्यक, 3.2.3
    (च) वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य—तैत्तिरीय ब्राह्मण, 2.8.8.5
    (छ) अनाहतशीर्ष्णी वाग् जुषाणा सोमस्य तृप्यतु—तैत्तिरीय संहिता, 3.2.5.1
22. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमम् ।
    येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि ।।
    प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम् ।
    मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम् ।।
    कणादेन तु सम्प्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं महत् ।
    गौतमेन तथा न्यायं सांख्यन्तु कपिलेन वै ।।
    द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमयार्थतः ।
    निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम् ।।
    धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम् ।
    दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा ।।
    बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम् ।
    मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च ।।
    मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ।
    अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम् ।।
    कर्मस्वरूपत्याज्यत्वमत्र च प्रतिपाद्यते ।
    सर्वकर्मपरिभ्रंशान्नैष्कर्म्यं तत्र चोच्यते ।।
    परात्मजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते ।
    ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं निर्गुणं दर्शितं मया ।।—पद्मपुराण, 6.263.66-75
23. तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः—तैत्तिरीय संहिता, 7.1.1.6
24. न शूद्रस्याधिकारः वेदाध्ययनाभावात्—ब्रह्मसूत्र 9.4 पर शांकरभाष्य ।
25. (क) पांचरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम् ।
        वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ।।
    (ख) श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः ।
        क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ।।

(ग) चकार मोहशास्त्राणि केशवः स शिवस्तथा ।
कापिलं नाकुलं चैव भैरवं पूर्वपश्चिमम् ।।
पंचरात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ।।—कूर्मपुराण ।

(घ) यानि शास्त्राणि दृश्यन्ते लोकेऽस्मिन्विविधानि च ।
श्रुतिस्मृतिविरुद्धानि तेषां निष्ठा तु तामसी ।।
करालभैरवं चापि यामलं वाममाश्रितम् ।
एवंविधानि चान्यानि मोहनार्थानि तानि तु ।।
मया सृष्टानि चान्यानि मोहायैव भवार्णवे ।—देवीपुराण ।

26. सांख्यं योगः पांचरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा ।
आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ।।—श्रीभाष्य, 2.2.42

27. तस्मादीश्वरप्रणीतत्वादेव सर्वागमानां प्रामाण्यम् ।
महाजनसमूहे ये प्रसिद्धिं प्रापुरागमाः ।
कृतश्च बहुभिर्येषां शिष्टैरिह परिग्रहः ।।
अद्य प्रवर्तमानाश्च नापूर्वा इव भान्ति ये ।
येषां न मूलं लोभादि येभ्यो नोद्विजते जनः ।।
तेषामेव प्रमाणत्वमागमानामिहेष्यते ।

28. तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरिवस्यारहस्य-प्रकाश); परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्व-मिति सिद्धान्तात् । —सौभाग्यभास्कर

29. वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः । वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात् । अतः शिवागमो द्विविधः, त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति । उभयोरेकः शिवः कर्ता । उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ ।
—श्रीकण्ठभाष्य, 2.2.38

30. अर्थिप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते ।
आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः ।।
अर्थी प्रष्टा प्रत्यर्थी संशयच्छेदको वक्ता तयोर्भावोऽनुग्राह्यानुग्राहकात्मा तेन यः प्रवृत्त आगमस्तेनापि शब्दरूपेण नियतशक्तिद्वारकमेव तत्तत्त्वं लभ्यते । उक्त-योगिप्रत्यक्षैकयोगक्षमतागमस्य कथयति ।

31. बाल्यापायेऽपि यद्भोक्तुमन्नमेष प्रवर्तते ।
तत्प्रसिद्ध्यैव नाध्यक्षान्नानुमानादसम्भवात् ।।—तन्त्रालोक, 35.18

32. ततश्चांशांशिकायोगात्सा प्रसिद्धिः परम्पराम् ।
शास्त्रं वाश्रित्य वितता लोकान्संव्यवहारयेत् ।। वही, 35.15

33. द्र. वही, 35.24-37

34. तत्र संविन्मात्रमये विश्वस्मिन् संविदि च विमर्शात्मिकायां, विमर्शस्य च

शब्दनात्मकतायां सिद्धायां, सकलजगन्निष्ठवस्तुनः तद्गतस्य च कर्मफल-संबन्धवैचित्र्यस्य यत् विमर्शनं तदेव शास्त्रम् इति परमेश्वरस्वभावाभिन्न एव समस्तः शास्त्रसन्दर्भो वस्तुतः एकफलप्रापकः एकाधिकार्युद्देशेनैव, तत्र तु परमेश्वरनियतशक्तिमहिम्नैव भागे भागे रूढिः लोकानाम्।—तन्त्रसार, पृ. 21

35. एवं च प्रायशो ग्रंथान्तरप्रक्षेपो ग्रंथविपर्यासः पाठविपर्यासश्चास्य ग्रंथस्य दुर्मेधोभिः परिकल्पितः शतशाखो दृश्यते।

36. द्र. स्वच्छन्दतन्त्र 2.35, 2.136, 4.244, 10.617, 660, 11.31, 11.228, 257, पर स्वच्छन्दोद्योत टीका।

37. वही, 1.6-7, 8.32-39; तन्त्रालोक 1.28, 36.1-14

38. कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः॥—कुलार्णवतन्त्र

39. द्र. विज्ञानभैरव 155; तन्त्रालोकविवेक, आह्निक 29, पृ० 113-114
अन्यास्तु सकला विद्याः प्रकटा मणिका इव।
इयं तु शाम्भवी विद्या गुह्या कुलवधूरिव॥ —कुलार्णवतन्त्र

40. तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते॥
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।—तन्त्रालोक, 1.18 पर विवेक में उद्धृत

41. (क) किरणागम के मतानुसार अठारह रौद्रागम—(1) विजय, (2) परमेश्वर, (3) निःश्वास, (4) प्रोद्गीत, (5) मुखबिम्ब, (6) सिद्धमत, (7) सन्तान, (8) नारसिंह, (9) चन्द्रहास, (10) भद्र, (11) स्वायंभुव, (12) विरज, (13) कौरव्य, (14) माकुट, (15) किरण, (16) ललित, (17) आग्नेय, (18) (?)।

(ख) ब्रह्मयामल के अनुसार अठारह रौद्रागम—(1) विरज, (2) निःश्वास, (3) स्वायम्भुव, (4) वाथुल, (5) वीरभद्र, (6) रौरव, (7) मकुट (8) वीरेश, (9) चन्द्रज्ञान, (10) प्रोद्गीत, (11) ललित, (12) सिद्धसन्तान, (13) सर्वोद्गीत, (14) किरण, (15) पारमेश्वर आदि।

(ग) नेपाल में उपलब्ध आठवीं शती की निःश्वास-तन्त्र संहिता के अनुसार अठारह आगम हैं—(1) विजय, (2) निःश्वास, (3) स्वायम्भुव, (4) वाथुल, (5) वीरभद्र, (6) रौरव, (7) माकुट, (8) विरज, (9) चन्द्रहास, (10) ज्ञान, (11) मुखबिम्ब, (12) प्रोद्गीत, (13) ललित, (14) सिद्ध, (15) सन्तान, (16) सर्वोद्गीत, (18) किरण, (18) पारमेश्वर।

(घ) जयरथ, तन्त्रालोकविवेक (1.18) के द्वारा दिए गए श्रीकण्ठी से

उद्धरण के अनुसार अठारह रौद्रागम—
विजयं चैव निःश्वासं मद्गीतं पारमेश्वरम् ।
मुखबिम्बं च सिद्धं च सन्तानं नारसिंहकम् ॥
चन्द्रांशुं वीरभद्रं च आग्नेयं च स्वयम्भुवम् ।
विसरं रौरवाः पंच विमलं किरणं तथा ॥
ललितं सौरभेयं च तन्त्राण्याहुर्महेश्वरि !
शिवागमों तथा रौद्रागमों की ईश, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर इन पंच वक्त्रों से उत्पत्ति मानी गई है (1.18 पर तन्त्रालोक-विवेक) ।

42. (क) किरणागम के अनुसार दस शिवागम—(1) कामिक, (2) योगज, (3) चिन्त्य, (4) कारण; (5) अजित, (6) सुदीप्त, (7) सूक्ष्म, (8) सहस्र, (9) सुप्रभेद, (10) अंशुमान् ।

(ख) मृगेन्द्रतन्त्र (पृ० 2) के अनुसार भी ये ही दस शिवतन्त्र हैं—
कामिकं योगजं वाथ तथा चिन्त्यश्च कारणम् ।
अजितं दीप्तसूक्ष्मौ च सहस्रश्च तथांशुमान् ॥
सुप्रभेदस्तथा ह्येते शैवाः संप्रकीर्तिताः ।

(ग) जयरथ (तन्त्रालोकविवेक, 1.139) ने श्रीकण्ठी के अनुसार जिन दस शैवागमों का उल्लेख किया है, उनमें मौकुट सम्मिलित है तथा सुप्रभेद सम्मिलित नहीं किया गया है।

43. (क) राजानक जयरथ ने श्रीश्रीकण्ठीसंहिता के अनुसार, (ख) लक्ष्मीधर ने वामकेश्वरतन्त्र के अनुसार, (ग) भास्करराय ने सेतुबंध में, (घ) सौन्दर्यलहरी के टीकाकार लक्ष्मीधर ने 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं' की व्याख्या में, (ङ) सर्वानन्द के सर्वोल्लासतन्त्र में, तोडलोत्तर के आधार पर, (च) महासिद्धिसारतन्त्र में रथक्रान्ता, विष्णुक्रान्ता और अश्वक्रान्ता (जगत के त्रिविध विभाग) इनमें से प्रत्येक में चौंसठ तन्त्रों की विभिन्न सूचियां उपलब्ध होती हैं । द्र० गोपीनाथ कविराज, तान्त्रिक साहित्य, पृ० 19-23।

जयरथ, तन्त्रालोकविवेक (प्रथम आह्निक) द्वारा दिए गए श्रीकण्ठी के उद्धरण के आधार पर भैरवतन्त्र की आठ अष्टकों की सूची निम्नांकित है, इस सूची में यामलाष्टक के अन्तर्गत एक तन्त्र-ग्रन्थ कम है ।

(व्रजवल्लभ द्विवेदी ने लुप्तागमसंग्रह, भाग दो (पृ० 94-111) में उड्डीश, कुक्कुटाख्य, कुब्जिका तथा रुरुभैरव को इस सूची में सम्मिलित किया है एवं भैरवतन्त्र को इस सूची में नहीं रखा है। इसका उन्होंने कोई आधार या प्रमाण नहीं दिया है।)

1. भैरवाष्टक (स्वच्छन्दाष्टक)—(1) स्वच्छन्द, (2) भैरव, (3) चण्ड, (4) क्रोध, (5) उन्मत्तभैरव, (6) असितांग, (7) महोच्छुष्म, (8) कपालीश

(एते स्वच्छन्दरूपास्तु बहुरूपेण भाषिताः) ।

2. यामलाष्टक—(1) ब्रह्मयामल, (2) विष्णुयामल, (3) स्वच्छन्द, (4) रुरु, (5)···,? (6) आथर्वण, (7) रुद्र, (8) वेताल ।
3. मताष्टक (चण्डाष्टक)—(1) रक्त, (2) लम्पट, (3) मत, (4) लक्ष्मी, (5) चालिका (पंचालिका), (6) पिंगला, (7) उत्फुल्लक, (8) विश्वाद्य (चण्डभेदाः स्मृता ह्येते···) ।
4. मंगलाष्टक—(1) पिचुभैरवी, (2) तन्त्रभैरवी, (3) ततभैरवी (4) ब्राह्मीकला, (5) विजया, (6) चन्द्रा, (7) मंगला, (8) सर्वमंगला (एष मंगलभेदोऽयं क्रोधेशेन तु भाषितः) ।
5. चक्राष्टक—(1) मन्त्रचक्र, (2) वर्ण-, (3) शक्ति-, (4) कला-, (5) बिन्दु-, (6) नाद-, (7) गुह्य-, (8) खचक्र (एष वै चक्रभेदोऽयमसितांगेन भाषितः) ।
6. बहुरूपाष्टक—(1) अन्धक, (2) रुरुभेद, (3) अज, (4) मूल, (5) वर्णभण्ठ, (6) विडंग, (7) ज्वालिन्, (8) मातृरोदन (कीर्तिता परमेशेन रुरुणा परमेश्वरि) ।
7. वागीशाष्टक—(1) भैरवी, (2) चित्रिका, (3) हंसाख्या, (4) कदम्बिका, (5) हृल्लेखा, (6) चन्द्रलेखा, (7) विद्युल्लेखा, (8) विद्युमान् (एते वागीशभेदास्तु कपालीशेन भाषिताः) ।
8. शिखाष्टक—(1) भैरवी शिखा, (2) वीणा, (3) वीणामणि, (4) सम्मोह, (5) डामर, (6) अथर्वक, (7) कबन्ध, (8) शिरश्छेद (एते देवि शिखाभेदा उन्मत्तेन च भाषिताः) ।

श्रीकण्ठीसंहिता में आठ अष्टकों में विभक्त इन चौंसठ ग्रन्थों को सदाशिवचक्र कहा गया है। इसी ग्रन्थ में दूसरे भेदोपभेद भी निर्दिष्ट थे, जैसे कि गारुड के अट्ठाईस, दक्षिण मार्ग के चौबीस तथा पश्चिम में प्रचलित भूततन्त्र के अनिर्दिष्ट भेद, इस प्रकार तन्त्र-ग्रन्थों को असंख्य माना गया था, और उसमें कुलशास्त्र को प्रधान माना था, साथ ही यह भी निर्देश किया गया था कि त्रिकशास्त्र का सम्प्रदाय बीच में विच्छिन्न हो गया था और उसका उद्धार संहिताकार के गुरु ने किया था।

44. तेन यथा मन्वादिस्मृतौ उत्सन्नशाखामूलत्वादष्टकादियागानां मूलभूता श्रुतिः कल्प्यते तथा इहापि ज्ञेयम् ।- तन्त्रालोक, 1.18 पर विवेक ।
45. व्रजवल्लभ द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ 'तन्त्रयात्रा' (पृ० 93-5) में यह उल्लेख किया है कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संग्रह में मत्स्येन्द्रयोगशास्त्र तथा मत्स्योदर नामक ग्रन्थ तथा श्रीसंहिता, त्रिकशास्त्र, सौभाग्यरत्नाब्धिशिवशास्त्र, यामलतन्त्र, बृहद्वातुलीतन्त्र, वामकेश्वरीपटल, त्रिपुरातिलक उपलब्ध

हैं। सरस्वतीभवन पुस्तकालय में ललितास्वच्छन्दसंहिता, वैष्णवशास्त्र, स्वच्छन्दभैरव, बालतन्त्र, डाकिनीकल्प, यक्षिणीसाधनतन्त्र, शैवनिर्वाणतन्त्र, वीरभद्रमहातन्त्र, रत्नमाला आदि आगमग्रन्थ हैं। अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ, में श्रीवत्सांकविरचित वृत्तिसहित भुवनमालिनीकल्प, उद्वाहतन्त्र, ज्ञानतिलक उपलब्ध हैं। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अभिनवगुप्त के 44 ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त योगतत्त्व, अनुत्तरविंशिका, भैरवस्तोत्रटीका, भी अभिनवगुप्त के नाम से मिलते हैं। इनके हस्तलेख हिन्दू विश्वविद्यालय के संग्रह में हैं; वहीं अभिनवगुप्त की कृति अनुत्तरशतक, तन्त्रोच्चय तथा बिम्बप्रतिबिम्बवाद (सटीक) के हस्तलेख भी मौजूद हैं। अन्तिम ग्रन्थ की एक प्रति सरस्वती भवन में भी है। इसी प्रकार नाग-विपश्चित की चित्तसन्तोषत्रिंशिका (तीनों संग्रह) [परमार्चनत्रिंशिका (सरस्वती भवन, वाराणसी, संस्कृत परिषद, लखनऊ,)] परमाद्वय-द्वादशिका सरस्वती भवन में उपलब्ध हैं। भास्करकण्ठ का चित्तानुबोधक महाशास्त्र का हस्तलेख हिन्दू विश्वविद्यालय के संग्रह में है। शिवोपाध्याय की अनेक कृतियां, प्रत्यभिज्ञामहोदयी, सिद्धान्तमनोज्ञमंजरी, निर्वाणयोगोत्तर, निरुत्तरवाद, स्पन्दवृत्ति, ज्ञानमंजरी, आरम्भसिद्धि, लघुवृत्ति आदि अनेक ग्रन्थ इन संग्रहालयों में एवं वैयक्तिक व संस्थानगत संग्रहों में पाए जा सकते हैं, इनके समुचित अनुसन्धान एवं प्रकाशन के बाद तान्त्रिक वाङ्मय का कुछ सही लेखा-जोखा किया जा सकेगा।

46. (क) इसमें तेईस अधिकार हैं जिनमें व्याप्ति, मन्त्रोद्धार, भुवनाध्वा, देहमार्ग, मुद्रा, समय, क्रियादीक्षा, अभिषेक, दीक्षा, भूतजय, तन्मात्र-धारणा, परमविद्या, कुलचक्र, मन्त्रनिर्णय, चन्द्राकृष्टि, सूर्याकृष्टि आदि विषयों का प्रतिपादन है। मधुसूदन कौल के अनुसार सिद्धयोगीश्वरीतन्त्र का पूर्वभाग सिद्धमत और अन्तिम भाग मालिनीविजयोत्तर तन्त्र है। तन्त्रालोक में इसी का श्रीपूर्वशास्त्र नाम से भी उल्लेख है।

(ख) इसमें पन्द्रह पटल हैं, जिनमें मन्त्रोद्धार, अर्चा, अधिवास, दीक्षा, अभिषेक, तत्त्वादिदीक्षा, पंचप्रवण, काल, अंशक, भुवनाध्वदीक्षाविधि, मुद्रा तथा छुम्मका आदि विषयों का विवेचन है। तन्त्रालोक के छठे आह्निक में वर्णित देशाध्वा एवं कालाध्वा विषय यहीं से गृहीत हैं। इस तन्त्र में विभिन्न आख्यानों, भूभागों, नदियों, पर्वतों, द्वीपों आदि का वर्णन पौराणिक शैली में मिलता है।

47. परात्रीशिका का अर्थ है इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया इन तीन (त्रि) की स्वामिनी (ईशिका) परासंवित्। यह रुद्रयामल का अन्तिम भाग माना गया है। इस पर सोमानन्द, भवभूति, कल्याण, अभिनवगुप्त, लक्ष्मीराम, लासक आदि ने

टीकाएं लिखी हैं। इसी को त्रिकसूत्र, त्रिकागम, अनुत्तरसूत्र भी कहा गया है।

48. स्वच्छन्दतन्त्र की अपेक्षा अर्वाचीन इस तन्त्र मे मृत्युजित् के स्वरूप तथा साधना का उपदेश है। कहा जाता है कि यह मूलतः द्वैतपरक था, जिसकी क्षेमराज ने अद्वैतपरक व्याख्या की। शिव के तृतीय प्रातिभ नेत्र का स्वरूप-वर्णन होने के कारण तथा मुक्ति तक ले जाने (नयते) और संसार से त्राण के कारण इसे नेत्रतन्त्र कहा गया है (द्र० नेत्रतन्त्र, 1.12)

49. मृगेन्द्र का अर्थ सिंह है। शर्व द्वारा उक्त आगम के श्रोता सिंह रूप में इन्द्र के होने से यह नाम पड़ा। द्वैतप्रधान होने पर भी, अभिनव द्वारा इसके तथा इसके मूल कामिकागम का अनेकत्र उल्लेख करने एवं नारायणकण्ठ की यत्र-तत्र अद्वैत-प्रधान व्याख्या के कारण इसका शैवागमों में परिगणन किया जाना चाहिए। पशुपति की ईशान रूप में साधना का विधान इस आगम में है। अन्य आगमों की भांति इसमें विद्या (13 पटल), क्रिया (8 पटल), चर्या (1 पटल) व योग (1 पटल) पाद हैं। इसमें पशुपति, पशु (जीव) तथा चतुर्विध पाश का निरूपण है।

50. विज्ञानभैरव की दो टीकाएं—क्षेमराज की उद्योत (24वीं कारिका तक) एवं शिवोपाध्याय की विवृति (25वीं से अन्त तक) एवं आनन्दभट्ट की कौमुदी टीका मिलती हैं। इसे रुद्रयामल का सार एवं सर्वशक्ति प्रभेदों का हृदय कहा गया है (विज्ञानभैरव, 162)। परमतत्त्व के स्वरूपनिरूपण के पश्चात् उसकी प्राप्ति के उपायों के रूप में 112 धारणाओं का विवेचन इसमें मिलता है।

51. द्र० स्पन्दनिर्णय, पृ० 2।

52. उत्पलभट्ट भट्ट कल्लट को स्पन्दकारिका का कर्ता मानते हैं (स्पन्दप्रदीपिका 53), किन्तु क्षेमराज (स्पन्दनिर्णय 4.2) उसका कर्ता वसुगुप्त को मानते हैं तथा कल्लट को टीकाकार मानते हैं। भट्ट भास्कर (11वीं शती ई०) के शिवसूत्रवार्तिक के अनुसार कल्लट शिवसूत्रवृत्ति, स्पन्दसर्वस्व तथा तत्त्वार्थ-चिन्तामणि आदि के भी रचयिता हैं। स्पन्दकारिका को शिवसूत्र की टीका और त्रिकशास्त्र का प्रतिपादक माना जाता है।

53. इस उल्लेख के अनुसार चौदह सिद्धों के अनन्तर क्रमशः संगमादित्य, वर्षादित्य, अरुणादित्य और आनन्दादित्य की सन्तान-परम्परा में आनन्द से सोमानन्द उत्पन्न हुए थे। इन्हीं के पूर्वज संगमादित्य बाहर से काश्मीर में आए थे।

54. क्षेमराज ने स्वच्छन्दोद्योत (10.617, 660, 1131; 11.228, 257) में सिद्धान्तागमसम्मत व्याख्याओं का स्पष्टतः खंडन किया है।

55. श्री श्रीविंशतिकाशास्त्रम्, श्रीराष्ट्रालोकः, श्रीसंजीवनीदर्शनम्, श्रीसंक्रान्ति-पंचदशी, श्रीपरशुरामस्तोत्रम्, श्रीसप्तपदीहृदयम्, श्रीमहानुभवशक्तिस्तव,

श्रीसिद्धमहारहस्यम्, आत्मविलास, षट्त्रिंशतत्त्वस्तोत्र, मन्दाक्रान्तास्तोत्र आदि।

56. स्वातन्त्र्यदर्पण इनका मौलिक ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त इन्होंने अमृतवाग्भवाचार्य के आत्मविलास, विंशतिकाशास्त्र, सिद्धमहारहस्य तथा महानुभवशक्तिस्तोत्र आदि ग्रन्थों पर टीकाएं भी लिखी हैं। वे शैवदर्शनकोष का भी निर्माण कर रहे हैं।

57. क्रम को ही कालीनय, अतिनय, देवीनय, महानय, महार्थ आदि नामों से जाना जाता है। यह साधना का शाक्तोपाय है। इसे त्रिक का सहोदर (तन्त्रालोक 4. आ.) कहा गया है। इसमें कर्मकांड की प्रधानता है।

कुलदर्शन शाम्भवोपाय है। इसमें मातृका एवं चक्रपूजन की प्रधानता है। क्रम और कुल दोनों में द्वादश काली स्वीकृत हैं। कुल को क्रमनय-सहोदर कहा गया है। रुद्रयामलतन्त्र, वामकेश्वरी तन्त्र, कालीकुल, परात्रीशिका, मालिनीविजय तन्त्र इसके प्रधान ग्रन्थ हैं। इसके अनुसार परम तत्त्व को कुल, अनुत्तर, अनाख्य कहा जाता है। त्र्यम्बक से प्रवर्तित 'निखिलशास्त्रोपनिषद्भूत' त्रिकविज्ञान और प्रत्यभिज्ञा एक ही हैं (तन्त्रालोक, 1.30)। त्रिक कुल का भी वाचक है क्योंकि यह परा, अपरा व परापरा शक्तियों को स्वीकार करता है—

त्रिकं परादिशक्तित्रयाभिधायकं शास्त्रम्।—तन्त्रालोक, 1.150

कुल में वाम और दक्षिण दोनों का समन्वय है। परमाद्वैतवादी त्रिक (तन्त्रालोक 3 आ.) बाह्यलिंग पूजा, जटा, भस्म, उपवास, तीर्थाटन आदि का न निषेध करता है न स्वीकार। प्रत्यभिज्ञाहृदय (श्लोक 18) के अनुसार तान्त्रिक आत्मतत्त्व को विश्वोत्तीर्ण, कुलनय विश्वमय और त्रिक विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय मानता है। इस प्रकार काश्मीर शैवदर्शन को त्रिकदर्शन कहना सर्वथा उपयुक्त है। इसी के नामान्तर हैं—षडर्धविज्ञान, षडर्धशास्त्र आदि। इसमें पर अर्थात् शिव, शक्ति तथा यामल (शिव की शक्त्युन्मुखता और शक्ति की शिवोन्मुखता) का एक त्रिक, परापर अर्थात् परा, अपरा, अपरा का दूसरा त्रिक, तथा अपर अर्थात् नर, शक्ति एवं शिव का तीसरा त्रिक स्वीकृत है और द्वैताद्वैत, द्वैत एवं अद्वैत का समन्वय कर पराद्वैत की स्थापना की गई है—

नरशक्तिशिवात्मकं हीदं सर्वं त्रिकरूपमेव—परात्रिंशिकाविवृति, पृ० 80

दर्शन

काश्मीर की भूमि में चिन्तन और कवन सहोदर हैं। साहित्य, दर्शन और साहित्य-शास्त्र का वह शारदापीठ है। कविता और केसर उसमें एक साथ उगते हैं। काश्मीर के त्रिक-दर्शन को परमाद्वैत, महाद्वैत अथवा ईश्वराद्वयवाद के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः ईश्वर की मान्यता और सम्पूर्ण सृष्टि की उससे एकात्मता केवल शिवमूलक या विष्णुमूलक आगम-परम्परा में ही विभिन्न रूपों में प्रतिपादित की गयी है, अन्य दर्शनों में नहीं। बुद्ध का अद्वयवाद सदसद् आदि विभिन्न कोटियों के प्रतिषेध पर आश्रित है। वह निषेधमूलक अद्वैत है। आचार्य शंकर का अद्वैतवाद जगत् के निषेध और कूटस्थ नित्य की स्वीकृति का सिद्धान्त है। ब्रह्म को सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति घोषित करने पर भी आचार्य शंकर सर्व को संकेतित करने वाले जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं, कूटस्थ नित्य परमसत्ता कर्तृत्वहीन है क्योंकि क्रिया विकार है और ब्रह्म निर्विकार। निष्क्रिय, जड़ और परतन्त्र एकतार लगते हैं। गत्यात्मकता विकार है। यह आचार्य शंकर के निर्गुण ब्रह्मवाद का, उनके अद्वैत का प्रमुख सूत्र है। ब्रह्म के निर्गुण होने के कारण सगुण की प्रतीति मायीय है, मिथ्या-ज्ञान-निमित्तक है और साथ ही नैसर्गिक होने के नाते सनातन भी है। निर्विकार और निर्गुण में न वास्तविक कर्तृत्व सम्भव है और न ज्ञातृत्व, अतः ब्रह्म को सर्वज्ञ और सर्वशक्ति कहना, निर्गुण ब्रह्मवाद का सगुण ब्रह्मवाद में रूपान्तरण है और यह शंकर का अद्वैतवाद नहीं है। कर्तृत्व में ही स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित है। विकार के भय से उसे स्वीकार न करना भूमा का प्रतिबन्धन होगा। **अणोरणीयान्** और **महतो महीयान्** तथा **पूर्णमदः पूर्णमिदं** की वह नेतिनेत्यात्मक व्याख्या होगी। सम्पूर्णता और सर्वात्मकता का उसमें निषेध अवश्य होगा। शैव दार्शनिकों को लगता है कि शंकर का ब्रह्म माया के द्वैत में फंसा हुआ है, सूर्य बदली से ढक गया है और वेदान्त का ईश्वर या सांख्य का पुरुष कर्तृत्व-सामर्थ्य और स्वातन्त्र्य के बिना लंगड़ा (पंगु) दिखाई देता है। इस तरह शंकर का अद्वैतवाद सम्पूर्णता का ग्रहण नहीं करता, क्योंकि एक का निषेध किये बिना वह अद्वैत स्थापित नहीं कर पाता। पर यह निषेध त्रिक दर्शन की दृष्टि से पूर्ण को अपूर्ण बनाना है, अतः उन्हें यह ग्राह्य नहीं है। ब्रह्म, शिव, परमशिव, अनुत्तर, भैरव, काली किसी भी नाम से कहें,

(**संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः**), पारमार्थिक अद्वैतवाद के लिए उसके स्वातन्त्र्य को स्वीकार करना आवश्यक है। इसके बिना न तो उस तत्त्व का परमत्व स्थापित होगा और न सृष्टि के उन्मेष-निमेष, प्रलयोदय की व्याख्या होगी और न उससे संबंध ही तात्त्विक हो पायेगा। त्रिकदर्शन के अनुसार परमतत्त्व शक्ति-त्रिशूल से निरन्तर परिगत है, वह त्रिशूली है। इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया उसके त्रिशूल हैं। शैवदर्शन का ईश्वराद्वयवाद पराद्वैत है जो शून्यवाद-सदृश शंकर के निर्गुण ब्रह्माद्वैत से सर्वथा भिन्न है।[1] इसमें द्वैत, द्वैताद्वैत दोनों सम होकर अद्वय बनते हैं।[2] इस पराद्वैत में न तो भेद को स्वीकार करना पड़ता है और न छोड़ना पड़ता है[3], तत्त्वतः द्वैत न होने पर भेदावभासन का स्वातन्त्र्य इस पराद्वैत की व्याख्या है[4], किसी प्रकार का भेद-प्रकाश, आनन्द और सुन्दर शिवाद्वैत का प्रभेदन नहीं कर सकता[5], अद्वय की इस भूमिका में सुख-दुःख, बन्ध-मोक्ष, जड़-चेतन, घट-कुम्भ की तरह अर्थतः पर्याय बन जाते हैं--शब्द और संज्ञाएं भले ही भिन्न हों[6]—क्योंकि इन सभी परस्पर-विरोधी संज्ञाओं का महेश्वर के स्वरूप से अभेद है।[7] भेद और अभेद के विरोध की अविद्या के रूप में अनिर्वचनीय कहकर व्याख्या करना या सांवृत कहना वंचनामात्र है[8] क्योंकि यदि चैतन्य का एकत्व वास्तविक है तो उसमें अविद्याकृत उपप्लव कहां से और कैसे होगा? जीव परमार्थतः है ही नहीं, तो उसे अविद्या का आश्रय मानना ठीक नहीं, और ब्रह्म ज्ञानरूप होने के कारण अविद्या का अधिष्ठान नहीं हो सकता।[9] महेश्वरानन्द[10] कहते हैं—सत्य और असत्य, हेय और उपादेय की व्यवस्था और कल्पना करने पर अद्वैत का पर्यवसान द्वैत में ही होगा। संविदुल्लास में कहा है कि अद्वैत सत् है और द्वैत असत्—इन द्विविध कोटियों का परिणाम द्वैतवाद में ही होता है अतः दो की एकरसता, सामरस्य को ही अद्वैत मानना उचित है।[11] त्रिकदर्शन में माया शिव की शक्ति है, बन्धन नहीं, उसके स्वातन्त्र्य, क्रीड़ाभाव या लीला का स्फुरण है, प्रतीपभाव की प्रतीति नहीं है। यह शिवाद्वयवाद ब्रह्माद्वैतवाद तथा बौद्धों के शून्यवाद, विज्ञानवाद से विलक्षण है और ईश्वर या शिव की सर्वात्मकता तथा, शिव-शक्ति के सामरस्य का प्रतिपादक सिद्धान्त है। अभिनवगुप्त के अनुसार बुद्ध ने '**चित्तमात्रमिदं**' कहकर विज्ञानाद्वय का प्रतिपादन किया था, किन्तु उनके व्याख्याकारों ने उसे त्रैधातुक कहकर अपने दुरभिनिवेश से हमें छला है। ब्रह्मवादी वेदान्ती द्वैतपरक व्याख्या छोड़कर अविद्या को पारमेश्वरी मायाशक्ति मान लें तो वे भी ईश्वराद्वयवाद के समर्थक हो जायेंगे। शैव-वैष्णव दर्शनों तथा उपनिषदों में इसी की सिद्धि की गयी है (द्र० ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, खण्ड 3, पृ० 405)।

सोमानन्द ने शिवदृष्टि में कहा है कि नानाभेद चित् की अभिव्यक्ति है। घट और यज्ञदत्त शिवात्मक है और शिव घटात्मक और यज्ञदत्तात्मक है। शिव विभिन्न भावों में सदा अपना परामर्श करता है, इसी प्रकार विभिन्न भाव-पदार्थ भी।

सारा जगत् शिवमय है और शिव जगन्मय। एक पदार्थ का दूसरे सभी पदार्थों से भेद नहीं है --**सर्वे सर्वात्मकाः भावाः सर्वसर्वस्वरूपतः**। यही शिव की सर्वात्मकता और सर्व की शिवात्मकता है।[11] इसी का आत्मपरामर्श शिव में भी है और भावों में भी। इसको हम सर्वसाम्यवाद भी कह सकते हैं।[12] ईश्वराद्वयवाद की यह अवधारणा आगम-दर्शन की देन है। सच यह है कि अन्य भारतीय दार्शनिक संप्रदायों में ईश्वर या तो अनीश्वर है या अपारमार्थिक है। ईश्वर की पहचान, **ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा,** त्रिकदर्शन ही कराता है। इसकी मूल दृष्टि यह है कि चैतन्य या प्रकाश में अहं परामर्श की शक्ति आवश्यक है। इसी से कर्तृत्व, स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित होगा और उसी से ईश्वरत्व की सिद्धि संभव है, अन्यथा नहीं।

जैसा कि सुविदित है त्रिकदर्शन 36 तत्त्व स्वीकार करता है—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या, ये प्रथम पांच तत्त्व शुद्ध हैं क्योंकि इनमें माया या इदंता का स्पर्श नहीं है। माया और पांच कंचुक --कला, विद्या, काल, राग, नियति—शिव के कंचुक, आवरण या पाश हैं। इन्हीं से आवेष्टित होकर शिव पुरुष-तत्त्व है, जिसे पशु भी कहते हैं। इन तत्त्वों के साथ प्रकृति और उसके सांख्यसम्मत 23 परिणामों को मिलाकर कुल 36 तत्त्व त्रिकदर्शन को मान्य हैं। शिव के अतिरिक्त परमशिव, अनुत्तर, भैरव, काली आदि की 37वें तत्त्व के रूप में भी कल्पना की गयी है।[13] शैव जिस प्रकार शिव को परमतत्त्व मानते हैं, उसी प्रकार शाक्त शक्तितत्त्व को परम या प्रधान मानते हैं।

चित्, चैतन्य, संवित् या प्रकाश का स्वभाव है विमर्श, स्पन्द या क्रिया। यह क्रिया स्वभाव होने के नाते सहज, लीलारूप, अनायास और आनन्दात्मक है, शिव का हृदय और सार है। यह क्रिया न तो प्रयत्नसाध्य है और न यान्त्रिक। प्रकाश विमर्शात्मक है और विमर्श प्रकाशात्मक। प्रकाश की यह विमर्शरूपता, चैतन्य की यह स्पन्दनशीलता या गत्यात्मकता उसकी स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करती है। यही स्वतन्त्र चिति विश्वसिद्धि का हेतु है-- **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः**। यही शिव-शक्ति का तादात्म्य अथवा अविनाभाव है—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीदृशान्॥

—शिवदृष्टि, 3.2-3

इसी को शिवशक्ति का तादात्म्य कहा जाता है—

"तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव।"

शक्ति शिव का विशेषण, गुण, धर्म अवच्छेदक, उपाधि, अंश या विभूति नहीं है अपितु उसका स्वरूप है। इस पर प्रश्न उठ सकता है कि फिर शिव और शक्ति इनको दो तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है? इसका यही उत्तर है कि वे दो विलग तत् नहीं हैं—एक ही अनुत्तर के दो रूप हैं। हां, तत् के भाव (तस्य भाव-

स्तत्त्वम्) को बताने के लिए चैतन्य की क्रियात्मकता की ओर इंगित करने के लिए जल और प्रवाह के एक होने पर भी, समुद्र और तरंग के तदात्म होने पर भी, जिस प्रकार शब्द भिन्न हो जाते हैं, प्रतीति अद्वय की ही होती है,[14] उसी प्रकार शक्ति के शिवात्मिका और शिव के शक्त्यात्मक होने पर भी शिव-शक्ति का भिन्नतया प्रयोग होता है। अतः यह भेद वस्तु का नहीं, अपितु शब्द का है। दूसरे शब्दों में कहें तो निःस्पन्द समुद्र में प्रथम स्पन्दन की तरह, शतदल के प्रथम स्फुरण की तरह, महामानस में प्रथम विचार-उन्मेष की तरह, नर्तक के प्रथम पादक्षेप की तरह, कलाकार की प्रथम मानसी कल्पना की तरह शिव शक्तिमान् है। इसीलिए शक्ति को ऊर्मि, स्पन्द या मत्स्योदरी कहा गया है। कालिदास ने इसी ज्ञान-क्रिया-सहभाव को वागर्थसंपृक्ति की उपमा दी है और दूसरे आचार्यों ने अग्नि-दाहकता और चन्द्र-चन्द्रिका के उपमान दिए हैं। शिव शब्द में इकार शक्ति का प्रतीक है अन्यथा वह मात्र शव है अर्थात् निर्विमर्शात्मक ब्रह्म की तरह है जो जड़ से भिन्न नहीं किया जा सकता। प्रत्यवमर्शात्मक चिति को आगम-दर्शन में परावाक् कहा गया है।[15] वाक् तत्त्व में शब्द और अर्थ सूक्ष्म, स्थूल, पर या अव्यक्त रूप में सदा संश्लिष्ट रहते हैं अतः प्रकाश और विमर्श या चेतना और क्रियाशक्ति के सहभाव, सामरस्य, तादात्म्य, अविनाभाव की व्याख्या के लिए शिवशक्त्यात्मक तत्त्व को परावाक् कहना नितान्त उचित है। श्रुति में जिस वाक् तत्त्व का सूक्ष्म दर्शन प्रतिष्ठित था, उसका भर्तृहरि ने शब्द-ब्रह्मवाद की भाषिक धारणा में पल्लवन किया और तान्त्रिक धारा ने अपने सिद्धान्त और साधना के निरूपण में। परमतत्त्व को वाग्रूप में कहना और उसके चतुर्विध-विभाग द्वारा सृष्टि की व्याख्या करना आगम-दर्शन की विशिष्ट कल्पना है। इसमें वाक् के चार रूप माने गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी। भर्तृहरि के अनुसार वाक् के तीन ही रूप माने गये हैं। इसी आधार पर सोमानन्द ने शिवदृष्टि में भर्तृहरि के शब्द-ब्रह्मवाद का खण्डन भी किया है। प्रकाश-विमर्शात्मक शिव को अनुत्तर कहने का तात्पर्य यह है कि उससे परे कोई नहीं है, वह परिपूर्ण संवित् है जिसका सार है— चमत्कार या आनन्दात्मकता। वही निराकृति रहकर विश्वोत्तीर्ण कहलाती है और सर्वाकृति होकर विश्वमय बन जाती है। अतः शिव विश्वमय या सर्वाकृति भी है और विश्वोत्तीर्ण या निराकृति भी।[16]

आचार्य शंकर ने कहा है कि आत्मा ही ब्रह्म है, उसी प्रकार सोमानन्द की घोषणा है कि आत्मा ही शिव है। किन्तु आगमोक्त शिव समस्त भावों में स्फुरित है, वह पूर्ण चैतन्य तथा व्यापक है, उसकी इच्छा का प्रसार अव्याहत है, तथा ज्ञान एवं क्रिया का वह निरन्तर विस्तार करता है—

आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥ —शिवदृष्टि, 1.2

विश्व को चित्तमात्र अथवा अनेकाकारक संवित् बताने वाले मुनि (बुद्ध) की देशना बुद्धिवृत्ति रूप ज्ञान से परे नहीं जाती।[17] इस प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मिका प्रकृति से पृथक् रहकर पुरुष का स्वरूप में अवस्थान प्रकाशविमर्शात्मक शिव से भिन्न कल्पना है। योग का ईश्वर पुरुष तत्त्व से ऊपर है। इस प्रकार निर्विमर्शात्मक ब्रह्म, विज्ञप्तिमात्रता तथा केवल पुरुष की अवधारणा से प्रकाश-विमर्शात्मक चैतन्य अथवा ज्ञान-क्रिया-सामरस्य-रूप शिव की कल्पना भिन्न है।[18] उसे पंचकृत्यकारी भी कहा जाता है—सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह शिव के सनातन एवं शाश्वत कृत्य हैं। चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया—उसकी प्रमुख शक्तियां हैं। वस्तुतः अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण होने पर भी शिव की कर्तृत्व शक्ति ही प्रधान है, उसी के द्वारा अन्य सभी शक्तियों का आक्षेप हो जाता है—**सर्वाः शक्तीः कर्तृत्वशक्तिः ऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति, सा च विमर्शरूपा इति युक्तम् अस्या एव प्राधान्यम्**—(ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी—पृ० 214)।

आचार्य शंकर के अनुसार क्रिया विकार है (द्र० ब्रह्मसूत्र, 1.1.4) और वह ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। क्रिया पुरुष की बौद्धिक कल्पनाओं पर अवलम्बित है अतः पुरुषतन्त्र है जबकि ज्ञान सिद्धवस्तु की यथातथ उपलब्धि है। ज्ञान प्रकाश है, क्रिया अन्धकार। क्रिया साध्य है, पुरुष द्वारा निष्पाद्य है, उसमें विकल्प, उत्सर्ग, अपवाद सम्भव हैं, किन्तु ज्ञान बुद्धि की कल्पनाओं से निरपेक्ष और वस्तुतन्त्र है। श्रुति में शंकर के अनुसार क्रिया का नहीं अपितु ज्ञान का प्रतिपादन है। इस प्रकार शंकर के अनुसार ज्ञान का क्रिया के साथ आत्यन्तिक विरोध है। तान्त्रिक दर्शन में क्रिया को ज्ञान का स्वभाव और स्वरूप माना गया है। वह चैतन्य के कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य को अभिव्यक्त करती है। ज्ञान का क्रियाशून्य होना, उसे जड़ बनाता है। आचार्य शंकर के विपरीत मीमांसकों की धारणा थी कि आम्नाय क्रियार्थक है, अक्रियार्थक वेद का कोई अर्थ नहीं, वह सब अनर्थक है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

—जैमिनिसूत्र, 1.2.1

वेद-वाक्य प्रवर्तक या निवर्तक है। इसके व्यतिरिक्त जो कुछ भी है, वह सब उसी का अंग है। वेद केवल कर्म का अवबोधन कराता है और उसी का उपदेश देता है।[19] श्रुत्यर्थ के सम्बन्ध में ये दो परस्पर नितान्त विरोधी धारणाएं हैं। शंकर को ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद भी स्वीकार्य नहीं है। वस्तुतः शंकर के अनुसार क्रिया कर्मरूप है। अतः वह पुरुष द्वारा साध्य अतः हेय अथवा उपादेय है। इसी कारण उन्होंने कर्म का विरोध किया है। साथ ही ब्रह्म को सर्वज्ञ और सर्वशक्ति भी कहा है। सर्व है नहीं और क्रिया विकार है, तो ब्रह्म को सर्वत्र या सर्वशक्ति कहना, तत्त्वतः मिथ्या प्रवचन है। सांख्य चैतन्य और कृति (क्रिया) के अधिकरण भिन्न-भिन्न मानता है। जहाँ चैतन्य है वहाँ कर्तृत्व नहीं और जहाँ कर्तृत्व है वहाँ

चैतन्य नहीं। पुरुष चेतन और निर्गुण है, प्रकृति गुणात्मिका और कर्त्री; दोनों ही एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र हैं। इनका संसर्ग, उपराग या अविवेकिता ही अज्ञान या बन्धन है। सांख्य दर्शन में कृति या परिणामशीलता को विकार मानकर हेय या अन्धकार तो नहीं कहा गया है, किन्तु उसे अन्धा अवश्य रखा गया है। कर्तृत्व का चैतन्य के साथ सम्बन्ध अतात्त्विक है। चैतन्य और क्रिया का वास्तविक सामानाधिकरण्य नहीं है। वे तत्त्वतः एक हो ही नहीं सकते। सांख्य स्वयं यह स्वीकार करता है कि ज्ञान बुद्धि का सात्त्विक भाव है किन्तु वह पुरुष के बोध या चैतन्य से सर्वथा भिन्न है। बुद्धि-वृत्ति रूप ज्ञान प्राकृत होने के नाते प्रसवशील है किन्तु चैतन्य परिणाम-धर्मी नहीं है। यही चैतन्य और कर्तृत्व का वैयधिकरण्य है। चैतन्य पौरुषस्वरूप है और कर्तृत्व प्राकृत। यह सांख्य-दृष्टि है। इसके विपरीत त्रिकदर्शन की मान्यता है कि बुद्धिवृत्ति-रूप ज्ञान से भिन्न चैतन्य है जो स्वयं पुरुष का आत्मबोध है, बुद्धिवृत्तिता नहीं है। इसीलिए वे ज्ञान को भी द्विविध मानते हैं : पौरुष ज्ञान और बौद्धज्ञान। बौद्ध ज्ञान से आत्मप्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता, उसके लिए पुरुषनिष्ठ (पौरुष) ज्ञान होना आवश्यक है। इस बोध की और उसकी क्रियाशीलता की स्वीकृति संवित् या प्रकाश की विमर्शमयता का शैव सिद्धान्त है। यह सांख्य दृष्टि का खण्डन कर महेश्वर को आदि-सिद्ध ज्ञाता और कर्ता घोषित करता है, जिसका बौद्धिक स्तर पर न खण्डन हो सकता है और न मण्डन—

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, का० 1.1

अर्थात् चैतन्य और स्वातन्त्र्य का सामानाधिकरण्य पौरुषज्ञान (अनुभव) से जाना जा सकता है, शुद्ध बौद्धिक प्रत्यय से नहीं। यह बुद्धि की सीमा की स्वीकृति है। संबोधि तथा केवल-ज्ञान भी बुद्धि से परे हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन की आत्मा में बुद्धि (ज्ञान), इच्छा, प्रयत्न (कर्म) का समवाय है, परन्तु उनकी आत्मा स्वरूपतः कर्ता और ज्ञाता नहीं है और न उसमें स्वतन्त्र संकल्पना की शक्ति है। इसीलिए उनका ईश्वर (परमात्मा) अनीश्वर है—परमाणु और अदृष्ट के आधीन। ईश्वर की इस विवशता का शैव दार्शनिकों ने स्वातन्त्र्यवाद की प्रतिष्ठा द्वारा निराकरण किया है। शिव ऐसा कलाकार है जो बिना किसी उपादान और भित्ति के जगच्चित्र का निर्माण करता है—

निरूपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

रामानुज-दर्शन में अनन्तगुण-गण नारायण के विशेषण हैं। वे अपृथक्सिद्ध अवश्य हैं, किन्तु विशेष्य-प्रधान हैं, विशेषण गौण हैं। अन्य वैष्णव दर्शनों में

अशांशि-भाव, शेषशेषिभाव आदि की कल्पना की गयी है, कहीं भी ज्ञान और क्रिया को अविनाभूत नहीं माना गया है। गीता में जीवलोक को अंशी (श्रीकृष्ण) का अंश और उसी प्रकार विभूतिमान् एवं श्रीसम्पन्न एवं अर्जित सत्त्व को उन्हीं के तैजस अंश से उद्भूत माना गया है।[20] दुर्गासप्तशती में कहा है—"एक मैं ही हूं, कोई दूसरी नहीं है, देखो, दुष्ट ये सारी विभूतियां मुझमें प्रविष्ट होती जा रही हैं।"[21]

त्रिकदर्शन की शक्ति धर्म, गुण, अंश वा विभूति न होकर ज्ञान का ही स्वात्म-परामर्श और स्वातन्त्र्य है। शिव स्वयं विभिन्न भूमिकाओं में अवतीर्ण होता है—वही प्रेक्षक या सामाजिक है, वही विभाव, अनुभाव एवं संचारीभाव बनता है, रंगस्थली बनता है। उसे जो भूमिका निभानी होती है उसी के अनुसार आचरण करता है और वही रसास्वाद करता है।[22] शिवसूत्र में इसीलिए आत्मा को नर्तक, अन्तरात्मा को रंग, इन्द्रिय को प्रेक्षक और इच्छाशक्ति को कुमारी 'उमा' कहा गया है।[23] उत्पल ने इसी चिदात्मा को योगी कहा है, जो अपनी इच्छा से बाह्य विषय का बिना किसी उपादान के प्रकाशन करता है।[24] "यदि महेश्वर एकरूप ही बना रहे तो उसका ईश्वरत्व और संवित्त्व (चैतन्य) उसी प्रकार नष्ट हो जायेगा जैसे कि घट का।[22] एकरूप में अवस्थित घट का कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। स्वातन्त्र्य का निकष है—अन्यापेक्षा का अभाव। चैतन्य, ऐश्वर्य और कर्तृत्व, अतिदुर्घटकारिता अथवा **कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्** का सामर्थ्य स्वतन्त्रता है जोकि स्वयं की बोधरूपता से भिन्न नहीं है।[26] क्रिया या कर्तृत्व विधिनिषेध-रूप कर्म नहीं है। शुद्ध चिदानन्द अवस्था में वह स्पन्द या शक्तिरूप तथा आत्मपरामर्शमयी है; इसी आत्मपरामर्श को पूर्ण अहन्ता कहा गया है। यह क्रिया जब अन्तर्मुख होती है तब इसे निमेष कहते हैं और जब इसका प्रवाह बाहर की ओर होता है तो इसे उन्मेष कहा जाता है। यह स्थिति, बाह्य इदन्ता के पूर्व होती है तो अन्तःनिमेष को सदाशिव और बाह्य उन्मेष को ईश्वर कहा जाता है—

"ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।"

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 3.1.3

इस प्रकार शक्ति का अन्तःस्फुरण, सत्ता का अनुभव, सदाशिव तत्त्व है और बाह्य स्फुरण ईश्वर तत्त्व। वस्तुतः इस स्थिति में आन्तर और बाह्य है नहीं, किन्तु स्फुरत्ता-रूप शक्ति या स्पन्द की यह छलकन (उच्छलन) है, जो कुछ प्याले में और कुछ प्याले के बाहर की ओर लगती है। यह आन्तर व बाह्य औन्मुख्य मात्र है। आंख की मुद्रित और अमुद्रित अवस्था में जैसे कुछ आन्तर व बाह्य नहीं है, उसी प्रकार इस उन्मेष व निमेष में भी। यह उन्मेष-निमेष आगे चलकर प्रलयोदय का प्रतीक बन जाता है। शिव, शक्ति, सदाशिव—ईश्वर के इन स्वरूपों की इसमें विद्यमान अहन्ता-इदन्ता, अहमिदं की शुद्ध प्रतीति सद्विद्या है—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियोः (वही, 3.1.3)। एक तराजू के दो समान पलड़ों की तरह 'अहं' और 'इदं' का जहां अनुभव हो, वह सद्विद्या का द्योतक है। इस प्रकार 'अहमिदं' का शुद्ध परामर्श ही सद्विद्या है। शुद्ध विद्या को परापर दशा कहा गया है। भावों का अनात्म रूप में भासन अपरत्व (अपूर्णत्व) है और उनका अहन्ता में आच्छादित रहना परत्व है। चूंकि सद्विद्या में अनात्म-रूप से भासित पदार्थ अहन्ता से आच्छादित रहते हैं अतः इसे परापर दशा कहा गया है। सद्विद्या से लेकर शिवतत्त्व तक की भूमिकाओं का अनुभव करनेवाले चार प्रकार के प्रमाता क्रमशः मन्त्र, मन्त्रेश, मन्त्रमहेश और शिव हैं। शिवरूप प्रमाता शक्ति-भूमिका का भी अनुभव करते हैं और शिव-भूमिका का भी। शेष तीन प्रमाता विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल हैं। विज्ञानाकल अपने-आपको शून्यप्रकाशात्मक समझते हैं, इन्हें विमर्शरूपता का अनुभव नहीं होता। इन्हें विज्ञान-केवल भी कहते हैं। प्रलयाकल शुद्ध प्रकाश को स्वात्मा न समझकर जडात्मक शून्य को अहं समझते हैं और सुषुप्ति की दशा में स्थित रहते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग एवं बौद्ध का मोक्ष (अपवर्ग, कैवल्य एवं निर्वाण), शैव-दर्शन की दृष्टि से अपवेद्य सुषुप्ति के समान है और उसका अनुभव करनेवाला प्रमाता प्रलयाकल है। सकल नामक प्रमाता केवल भेद को देखते हैं और उनका अनुभव जाग्रत् और स्वप्न तक सीमित रहता है। इस प्रकार अन्तिम तीन प्रमाताओं का सम्बन्ध जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति (सवेद्य एवं अपवेद्य) से है और शेष चार का शुद्ध अध्वा अथवा पांच प्रथम तत्त्वों से। ये त्रिकदर्शन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पांच तत्त्व हैं। तत्त्वतः शक्तिमान् शिव की अवधारणा, संवित् की क्रियात्मकता, ही इस दर्शन का मूल है। यह क्रिया सत्, चित् और आनन्द की विमर्शात्मकता और स्वतन्त्रता को अभिव्यक्त करती है।

भेदों का आभासन करने की स्वतन्त्रता को प्रकट करने वाली माया वह मोहिनी शक्ति है जो एक रस में विकल्पों के शिल्प बुन देती है।[27] पूर्ण जब अपने को माया के द्वारा अपूर्ण रूप में अभिव्यक्त करता है तो वह अपने को पांच पाशों या कंचुकों से आवृत कर लेता है। वे हैं—कला, विद्या, राग, काल और नियति। कला किंचित्कर्तृत्व का और विद्या किंचिज्ज्ञातृत्व का कारण है, राग विषयों में अभिष्वंग है; काल भाव और अभाव का क्रम है, नियति यह मेरा है, यह मेरा नहीं है इस प्रकार के नियमन का हेतु है (द्र० ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 3.1.7-9, तन्त्रालोक, 6.157)। अभिनव के अनुसार कला, परिमित कर्तृत्व कारण हैं, शेष चार कंचुक कार्य हैं (वही, 6.161)—

"विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैतच्चतुष्टयं कलाकार्यम्।"

जिस प्रकार स्वप्न, स्मरण, मनोराज्य, संकल्प तथा योगी की इच्छा को बाह्य उपादान की अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार शिव या परा संवित् अपनी स्वतन्त्र इच्छा

से अन्तःस्थ भाव का बाह्य विषय के रूप में आभासन करती है।[28] सब-कुछ उस स्वतन्त्र शिव के अधीन अवश्य है पर वह पराधीन नहीं है; उसका कोई आवरक, अवच्छेदक, उपाधि आदि भी उससे स्वतन्त्र नहीं है, उसकी भी वही सृष्टि करता है—यह उसकी लीला या क्रीड़ा है, पराधीनता नहीं है। माया से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त तत्त्व उसी चैतन्य का विलास है, उसी के स्वातन्त्र्य का उन्मेष और उन्मीलन है। वही सर्ग और विसर्ग, सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह की अभिव्यक्ति से अपनी स्वतन्त्रता का उद्घोष करता है। शंकर का मायावाद प्रतीप शक्ति का, परमार्थ से विलक्षण व्यवहार का उद्भव ब्रह्म का स्वभाव या स्वातन्त्र्य का परिणाम नहीं मानता। वह इसकी व्याख्या नैसर्गिक मिथ्याज्ञान से करता है। अतः उसके अनुसार समग्र प्रपंच अतात्त्विक, मायीय, अविद्याकृत, अनिर्वचनीय या मिथ्या है। त्रिकदर्शन के अनुसार नानात्व का आभासन शक्तिमान् शिव की स्वतन्त्र इच्छा का नानात्व के रूप में आभासन या प्रकाशन है; एकरूप रहने पर स्वतन्त्रता का मान नहीं होता अतः उच्चावच, सम-विषम भूमिकाओं में आत्म-स्वरूप का गोपन कर अवतीर्ण होना गत्यात्मिका संवित् का स्वभाव है। शिव **'स्वात्मप्रच्छादनक्रीडापण्डित'** है। अतः यह जगत् शिव का आभास या उन्मीलन है और उन्हीं की तरह सत्य है। भास्करराय इसे शक्ति का परिणाम मानते हैं और महेश्वरानन्द कहते हैं कि इस जगत् को विवर्त भी कहा जा सकता है, पर उसका अर्थ शांकरदर्शन से भिन्न है। शंकर के अनुसार संसार अतात्त्विक परिणाम होने के कारण विवर्त है, पर तान्त्रिक दर्शन के अनुसार शिव का विचित्र या नाना रूपों में वर्तन, भवन, प्रकाशन या आभासन विवर्त है—**विचित्रेण रूपेण वर्तनम्**। उपनिषद् और गीता में प्रतिपादित वेदान्त की तान्त्रिक दार्शनिक (अभिनवगुप्त, भास्करराय आदि) ने शंकर से भिन्न व्याख्या की है। परतत्त्व पूर्ण है, पूर्ण से सम्पूर्ण का उद्गम है, पूर्ण की पूर्णता ले लेने पर पूर्ण की कोई क्षति नहीं होती, यह एक का अनन्त रूपों में अच्युत तनन (तन्त्र) है। **'पूर्णमदः पूर्णमिदं'**[29] की यह व्याख्या अधिक समीचीन है। आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं, उसी में जीवित रहते हैं और उसी में विलीन होते हैं (आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जातानि···)। "उसने कामना की अनेक के रूप में उत्पन्न होने की (सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय)", "इन्द्र मायाओं से अनेक रूप बन जाता है (इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते)", वह एक ऐंद्रजालिक अपनी शक्तियों से आधिपत्य करता है (य एको जालवान ईशत ईशनीभिः—श्वेताश्वतर)। इस प्रकार के श्रुतिवाक्यों का स्वारस्य कामना की स्वतन्त्रता तथा शक्तियों के द्वारा ऐंद्रजालिक की भांति सृष्टि-क्रीड़ा में निरत आनन्दरूप शिव का प्रतिपादन है। वेदान्त-वाक्यों का सूत्रण करनेवाले बादरायण के ब्रह्मसूत्र (1.1.2-3, 1.2.18, 2.1.6, 2.1-9, 2.1.24) के अनुसार ब्रह्म जगत् के जन्मादि का तथा शास्त्रों का कारण है, उसमें संसार के मिथ्यात्व का

खण्डन है (2.1.6), यह वस्तुतः अनन्त शक्ति की लीलामात्र है (2.1.33), उसके अनुसार ब्रह्मरूप आत्मा कर्ता और ज्ञाता है (2.1.22; 2.3, 18, 33)। उसे ज्ञाता के साथ कर्ता न मानना यज्ञादि क्रियाओं के सम्पादन तथा समाधि-लाभ की दृष्टि से उपयुक्त न होगा (2.3.39)। इस प्रकार ब्रह्मसूत्र की वेदांतमीमांसा त्रिकदर्शन के बहुत-कुछ अनुकूल है, शांकरभाष्य इस दृष्टि से अपव्याख्यान, असत् शास्त्र है। ब्रह्मसूत्रकार के अनुसार शूद्र को मोक्षविद्या का अधिकार नहीं है क्योंकि उसे श्रुति का अधिकार नहीं है (द्र०, ब्रह्मसूत्र, 1.3.36, 37, 38), किन्तु आगम-दर्शन सार्ववर्णिक है। क्रिया को विकार मानकर पूर्ण ब्रह्म कहीं अपूर्ण न हो जाय, इस त्रास से माया की कल्पना करना औपनिषद् दर्शन की सही व्याख्या नहीं है। इसलिए शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा गया था और उनके मायावाद को 'असत् शास्त्र' घोषित किया गया था। सृष्टि के पूर्ण विकास को चैतन्य का स्फार, आभास, प्रकाशन या उल्लास स्वीकार करना उसके सामर्थ्य, महेश्वरत्व को सिद्ध करेगा। "यह सब मेरा वैभव है, यह सब मैं हूं"[30] विश्वात्मा का यह परिज्ञान 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का सही वाक्यार्थ है। आगम-दर्शन शिव की विश्वमयता को बहुत महत्त्व देता है—अहं की सर्वात्मतया अनुभूति जिसमें सब-कुछ अपना हो जाय अर्थात् भूमा का महाभाव पूर्ण अहन्ता है। मन, बुद्धि अहंकार से आवेष्टित, शरीर, इन्द्रिय के बन्धन से परिग्रहीत, स्व-पर, विषय-विषयी, शुद्ध-अशुद्ध और विधि-निषेध के द्वैत से आक्रान्त **अहम्** अभिमान के नामान्तर हैं। **अनहम्** या अनात्म की जब तक प्रतीति होती रहती है, तब तक वास्तविक **अहम्** का भाव ही नहीं हो सकता। वेदान्त में आत्मरूप अहं की प्रतीति **इदं** के विरोधी प्रत्यय के रूप में है, त्रिकदर्शन में यह प्रतीति '**इदं**' को आत्मरूपतया देखने—अनुभव करने में है। एक का आधार '**नेति-नेति**' है तो दूसरे का 'जित देखो तित लाल'।

अस्तु, विश्व-वैचित्र्य स्वतन्त्र अहमात्मिका संवित् का आभास है, विवर्त, परिणाम, विकार या आरंभ नहीं है। यह त्रिक दर्शन का आभासवाद है।[31] चूंकि यह तात्त्विक प्रकाशन है अतः यह विवर्त नहीं है। यह आभास अचेतन का कर्तृत्व नहीं है अतः यह सांख्य का परिणाम भी नहीं है। यह बाह्य जगत् अन्तःस्थित भावजात का प्रकाशन है अतः आभासवाद आरम्भवाद भी नहीं है। आभासवाद का वास्तविक मूल त्रिकदर्शन का स्वातन्त्र्यवाद है। क्रियात्मक संवित् का इच्छा—ज्ञान—क्रिया के शक्तित्रितय से विश्व के अवभासन की निरुपादानक क्षमता आभास की स्वतन्त्रता को रेखांकित करती है।

अब प्रश्न है कि बाह्यतया स्थापित, अर्थात् भिन्न प्रतीत होनेवाले, विश्व का चैतन्य के साथ किस प्रकार का संबंध है? बाह्य और भिन्न स्थूल विश्व का चित् के साथ इस अवस्था में तादात्म्य नहीं है तो पराद्वैत खंडित होगा और यदि अद्वैत ही प्रतीत होता है तो विश्ववैचित्र्य की प्रतीति पराहत होगी। इसका समाधान त्रिक-

दर्शन का प्रतिबिम्बवाद है। शांकर दर्शन के अनुसार वस्तु की प्रतीति के पांच अंश हैं—अस्तिता, भातता, प्रियता (सत्, चित्, आनन्द), नाम और रूप। इनमें से प्रथम तीन ब्रह्म-रूप हैं और अन्तिम दो मायीय अथवा जगद्रूप। शैव दर्शन के अनुसार चैतन्य के निर्मल दर्पण में वस्तु का नानात्व प्रतिबिम्बित होता है अर्थात् चैतन्य की भूमिका में ही नानात्व की प्रतीति होती है। प्रतिबिम्ब अनेक होते हैं और परस्पर भिन्न होते हैं। इसके साथ-साथ वे दर्पण से भी भिन्न प्रतीत होते हैं। अर्थात् दर्पण में प्रतिबिम्बित विभिन्न प्रतिबिम्ब दर्पण से भी भिन्न हैं और एक-दूसरे से भी। यह नानात्व की प्रतीति है, किन्तु इन सभी प्रतिबिम्बों का दर्पण से अलग अस्तित्व नहीं है। दर्पण जड़ है पर चिति-दर्पण में जो नानात्व प्रतिबिम्बित है वह जड़ नहीं है; साधारण दर्पण को न तो प्रतिबिम्बों का भान है और न अपना और न इन सभी से अद्वय का। स्वच्छ स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित नाना रूप जैसे मणि की निर्मलता में कोई विकार या दोष पैदा नहीं करते हैं अपितु उसकी निर्मलता के अभिव्यंजक बन जाते हैं, उसी प्रकार विश्वात्मा में प्रतिबिम्बित विश्व उसकी निर्मलता का द्योतक है। इसी प्रतिबिम्बन के कारण विश्वोत्तीर्ण शिव विश्वमय कहलाता है।[32] दर्पण में प्रतिबिम्बित वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं होती, इस अर्थ में वह भ्रान्ति मानी जा सकती है, किन्तु चित् में प्रतिबिम्बित विश्व अर्थ-क्रियाकारी होता है।

प्रतिबिम्ब अर्थक्रियाकारी ही नहीं, अपितु आनन्दात्मक भी होता है। कामिनी अपने कान्त के दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख को देखकर प्रसन्न होती है (द्र० तन्त्रालोक, 3.6,29)। इसी प्रकार साहित्य तथा कला के क्षेत्र में भी सहृदय प्रमाताओं के चित्तों का सामुदायिक रूप में प्रतिबिम्बन आनन्द की सृष्टि करता है (द्र० वही, 3.209)। जिसकी संवित् में विश्व-वैचित्र्य का प्रतिबिम्बन होता है, उसी को विश्वेश्वर कहते हैं—

संविदात्मनि विश्वोऽयं भाववर्गः प्रपंचवान्।
प्रतिबिम्बतया भाति यस्य विश्वेश्वरो हि सः॥—वही, 3.268

प्रत्येक प्रतिबिम्ब का कोई बिम्ब होता है। विश्व-वैचित्र्य प्रतिबिम्ब अवश्य है पर इसका कोई बिम्ब नहीं है। बिम्ब मानने पर उसका वैचित्र्य मानना होगा, और उससे अद्वैत की ही हानि नहीं होगी, अपितु वैचित्र्य के निरन्तर नवनवोन्मेष की भी सम्भावना चुक जाएगी। यह गत्यात्मकता या शक्ति-सिद्धान्त के विपरीत है, निरन्तर पंचकृत्यकारिता के प्रतिकूल है। विश्व वस्तुतः शिव का आभास है और उसी में प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिष्ठित है। अर्थात् सृष्टि की दृष्टि से आभासवाद है और स्थिति की दृष्टि से प्रतिबिम्बवाद और संहार की दृष्टि से समावेश।* निस्तरंग

* शिव की कारणता की दृष्टि से सत्कार्यवाद मान्य है : "शिवकारणता सत्कार्यवादः" (शिवदृष्टिवृत्ति) इसका अर्थ सभी भावों का शिव में अन्तःस्थित होना है। न्याय के

समुद्र का तरंगण आभास है, उसका कल्लोलित रहना स्थिति है और अन्त में पुनः निस्तरंग (शान्त) हो जाना संहार है। इन सभी का मूल है शिव का स्वातन्त्र्य। उसी से जड़-चेतन पदार्थ का प्रकाशन होता है।

त्रिकदर्शन ने वस्तु की सत्ता और अर्थक्रियाकारिता के संबंध में भी अपनी मान्यता स्पष्ट की है। इसके अनुसार वस्तु का सत्त्व या सत्ता उसकी अर्थक्रियाकारिता पर निर्भर है। जो वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं है उसे बौद्ध वस्तु नहीं मानते। उनके अनुसार अर्थक्रियाकारिता वस्तु का स्वभाव है। शैव दार्शनिक भी वस्तु के सत्त्व को अर्थक्रियाकारिता से समवेत मानते हैं; अथवा यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु का सत्त्व अर्थक्रियाकारिता के कारण है। पर यह अर्थक्रियाकारिता शिव की इच्छाशक्ति का फल है, वस्तु का स्वतन्त्र स्वभाव नहीं है। उनके अनुसार जो अर्थक्रियाकारी है वह सत् है और वह सब शिव है अर्थात् संवित् या चैतन्य से एकात्म है। जो शक्त है वही अर्थक्रियाकारी हो सकता है। इस प्रकार सत्ता तथा अर्थक्रियाकारिता का अविनाभाव (अव्यभिचार) है। इसी को प्रख्या (सत्त्व) तथा उपाख्या (अर्थक्रियाकारिता) कहते हैं। यही नहीं, त्रिकदर्शन की यह भी मान्यता है कि जो वस्तु बाह्य रूप में प्रकाशित होकर प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय बनती है, उसे तो व्यवहार की दृष्टि से वस्तु माना ही जाता है किन्तु जो बाह्य आकार ग्रहण नहीं करती और व्यवहारतः अवस्तु कहलाती है यदि वह संवित् में प्रतिभासित होती है, चाहे वह आकाश-पुष्प, शशशृंग या और कुछ हो, वह भी अवस्तु नहीं है। चिद्रूपता के अनुभव के साथ ही वस्तुता, सत्त्व तथा अर्थक्रियाकारिता समवेत हैं। यही वस्तु-अवस्तु की शिवात्मकता है। इसी आधार पर शैव दर्शन व्यावहारिक, बौद्धिक, कल्पनात्मक या तदुत्तीर्ण प्रत्यय की सत्यता प्रतिष्ठापित करता है और मिथ्यावाद का खण्डन करता है। वस्तु की सत्ता संवित् के प्रकाश को और अर्थक्रियाकारिता उसके स्वातन्त्र्य को व्यक्त करती है।*

वसुगुप्त इसी स्वातन्त्र्य को चैतन्य और कल्लट स्फुरत्ता या स्पंद कहते हैं—यही महासत्ता है—और इसी को परावाक् कहा गया है, यही मुख्य ऐश्वर्य और आत्मपरामर्श है—इसी से निजत्व का बोध होता है। यही वह विशेषता है या धर्म है जो

कारणत्रय के संदर्भ में शिव निमित्त कारण, उसकी इच्छा समवायि कारण और अवयव-संयोग सहकारी असमवायि कारण है।

* (क) यदर्थक्रियाकारित्वात् सत् तत्सर्वं शिवरूपम्।—शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० 159

(ख) अर्थक्रियापि सहजा नार्थानामीश्वरेच्छया।—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 2.27

(ग) अवस्त्वपि प्रकाशमानं चिद्रूपमेव केवल बाह्य प्रकाशनाभावादवस्तु उच्यते।—शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० 130

(घ) सर्वथा यथा यत् प्रतिभातं तथैव तत् नान्यथा कर्तुं शक्यत इति सत्यमेव न किंचिन्मिथ्यात्वम्।—वही

सभी धर्मों और शक्तियों को अन्तर्भूत कर लेता है।[33] इसीलिए पाणिनि ने कर्ता को स्वतंत्र (स्वतन्त्रः कर्ता 1.4.54) कहा था। आज के शब्दों में स्वातन्त्र्य चेतना, रचनाशीलता, निजत्व, आइडेंटिटी, क्रियाशीलता, कर्तृत्व तथा आनन्द का पर्याय है। यह समष्टि तथा व्यष्टि दोनों में है, अपरिमित और परिमित दोनों का स्वभाव है। प्रथम पांच तत्त्व—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या क्रमशः संवित् के चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया के प्रतीक हैं तो कला, विद्या, काल, राग और नियति उसकी अपूर्णता के। यह अपूर्णता माया का कार्य है, स्वरूप का आवरण या कंचुक है। पूर्ण का अनेक रूपों में आभासन अपूर्ण बनकर ही हो सकता है। अपूर्णता की अभिव्यक्ति की स्थिति में वास्तविक पूर्णता का प्रत्यभिज्ञान हो जाये तो अपूर्णता का मल हटकर पुनः निर्मल पूर्णता की पहचान स्थापित हो जाती है। जब तक इस पूर्णता या ईश्वरत्व की प्रत्यभिज्ञा नहीं होती और अपूर्णता या परिमिति को यथार्थ मान लिया जाता है तो यही अज्ञान है।

आगमशास्त्र इस अज्ञान को मल कहते हैं, यही संसार के अंकुरण का कारण है।[34] यह अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं है, पत्थर में भी ज्ञान का अभाव होता है पर उसे संसरण का हेतु नहीं माना जा सकता। अतः समग्रता या पूर्णता की अप्रतीति अज्ञान है। इस प्रकार त्रिकदर्शन बौद्धों की आत्मख्याति, शून्यवादियों की असत्ख्याति, मीमांसकों की अख्याति, नैयायिकों की अन्यथाख्याति तथा शांकर वेदान्तियों की अनिर्वचनीयख्याति से भिन्न पूर्णताख्यातिवाद की स्थापना करता है। अज्ञान या भ्रम खण्ड दृष्टि है, अपूर्ण दृष्टि है, समग्रता या पूर्णता का ज्ञान नहीं है। अपूर्णता का ज्ञान अज्ञान है।[35] शिवसूत्र (1.2 तथा 3.2) में इसी अपूर्णता के ज्ञान को बन्धन कहा है—ज्ञानं बन्धः। मलरूप में अज्ञान तीन प्रकार का है—आणव, मायीय तथा कार्म। अणुभाव का अर्थ है संकुचित होना। स्वतन्त्रता का संकोच और बोध का संकोच —इस प्रकार आणव मल दो प्रकार का है: स्वातन्त्र्य का बोध से अलग होना और बोध का स्वातन्त्र्य से अलग होना—दूसरों शब्दों में, विमर्श का अप्रकाशरूप होना या प्रकाश का विमर्शरूप न होना, शक्ति की शिवात्मकता और शिव की शक्तिरूपता की हानि है। यह स्वरूप की हानि है, यही आणव मल है।[36] स्वरूप का निमीलन ही संकोच या हानि है। स्वरूप-संकोच होने पर भेद का प्रथम आभासन मायीय मल है, इससे देहादि में भेदबोध होने पर धर्माधर्म कार्म मल हैं, इसी से जन्म, आयु और भोग का फल सुखदुःखादि भोगना पड़ता है।[37] वस्तुतः ये तीनों मल अज्ञानरूप होने के कारण माया के कार्य हैं।[38] शैवदर्शन में ज्ञान तथा अज्ञान के दो आश्रय माने गये हैं—पुरुष तथा बुद्धि। इस तरह अज्ञान एवं ज्ञान के दो भेद हैं—पौरुष तथा बौद्ध। पौरुष अज्ञान मल है जो पूर्णता, चैतन्य एवं स्वातन्त्र्य को ढाँपकर शिव का आवरण बन जाता है।[39] पौरुष ज्ञान से ही इन आवरणों की निवृत्ति होती है। बौद्धिक अज्ञान विकल्पात्मक तथा अध्यवसायात्मक होता है।

इसी के कारण जड़ देहादि का निश्चय बना रहता है—**अहमित्थमिदं वेद्मि**। यही व्यवहार का आधार है। पौरुष ज्ञान इसका पोषक भी है और उससे पोषणीय भी।[40] तर्क-वितर्क, चिन्तन-मनन से बौद्ध अज्ञान नष्ट होता है किन्तु बौद्ध अज्ञान नष्ट होने पर भी पौरुष अज्ञान नष्ट नहीं होता, पौरुष अज्ञान पौरुष ज्ञान से ही नष्ट होना है। सामान्य शब्दों में, पौरुष ज्ञान व्यक्तित्व का संस्कार-परिष्कार करता है, बौद्धिक ज्ञान केवल उसकी बौद्धिकता का परिष्कार करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से पौरुष ज्ञान योग का साधक है, बौद्धिक ज्ञान पाण्डित्य का, पर दोनों का अन्तरंग संबंध भी है। पौरुष ज्ञान हो जाने पर भी यदि बौद्धिक अज्ञान नष्ट नहीं हुआ तो नये विकल्प बनने लगेंगे; इसी प्रकार बौद्धिक ज्ञान होने पर पौरुष अज्ञान के रहते सर्वात्मवाद का अनुभव नहीं होगा अतः पूर्णता की प्रत्यभिज्ञा के लिए, बौद्ध और पौरुष, दोनों ज्ञान आवश्यक हैं। इसीलिए शैवशास्त्र में सत्तर्क को उत्तम योगांग माना गया है। शंकर ज्ञान से मुक्ति अवश्य मानते हैं पर वस्तुतः इसका अर्थ अज्ञान की निवृत्ति है। ब्रह्मसंबंधी अज्ञान का विनाश ही शास्त्र या प्रमाण कर सकते हैं, क्योंकि वे सभी अविद्यारूप हैं—**तस्माद् अविद्यावद्विषयाणि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि शास्त्राणि च**। शैवदर्शन में ज्ञान अथवा प्रत्यभिज्ञा अथवा क्रियात्मक ज्ञान पूर्णता का प्रकाशक है।

"यह वही देवदत्त है," जिसे पहले कभी देखा था, उसके सामने पड़ने पर ज्ञात का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। यह स्मृति और प्रत्यक्ष का मिला हुआ ज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञा का प्रचलित अर्थ है। त्रिकदर्शन की प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप इससे भिन्न है। वह ज्ञात (लोचन) का ही अनुसंधान या विशिष्ट निरूपण है—**ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणम्, अनुसंधानात्मनम्**। जो सदा अपने साथ है, जो पहले से प्रकाशित है और अभी भी प्रकाशमान है उसका अभिमुख ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा में प्रति उपसर्ग प्रतीप का, अभि उपसर्ग आभिमुख्य का और ज्ञान अनुसंधान का वाचक है। आत्मा प्रकाशित होने पर भी बौद्धिक विकल्पों से विच्छिन्न हो जाता है उसी का सर्वतोभावेन साक्षात् ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है।[41] घटादि के मूल का अन्वेषण, अनुसंधान, करते-करते जैसे हम मिट्टी का साक्षात्कार कर लेते हैं, अथवा नील-सुखादि के ज्ञान का अन्वेषण करने से प्रमाता को पहचान लेते हैं, उसी प्रकार परम प्रमाता का प्रत्यभिज्ञान हो जाता है।[42] बाह्य या आन्तर का मूल ईश्वर है—यह जानना प्रत्यभिज्ञा है। वह ईश्वर अपने स्वातन्त्र्य से वेदक-वेद्य रूप में अनेक प्रकार से भागशः प्रकाशित है, वह दृष्ट है पर मोह के कारण पूर्णतया उपलक्षित नहीं है, ज्ञान-क्रियारूप शक्ति के द्वारा उसका पूर्ण प्रकाशन प्रत्यभिज्ञा है।[43] कुछ ज्ञात है किन्तु कुछ अज्ञात, यह ज्ञान अज्ञान है; पूरा ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। वस्तु का ज्ञान हमें अनेक रूप में होता है : स्वलक्षण, सामान्यलक्षण, स्मृतिरूप, उत्प्रेक्षारूप—इन सबसे भिन्न है प्रत्यभिज्ञा। कभी सादृश्य के आधार पर भी प्रत्यभिज्ञा प्रतीत

होती है जैसे कि शरीर, केश, नख आदि में। यह देवदत्त है, वही गांव पहुंच गया है : इस प्रकार के सादृश्य-ज्ञान से एकता का अवगम नहीं होता अतः यह प्रत्यभिज्ञा नहीं है। तत्त्वतः अपनी आत्मा की ईश्वररूपता का ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है।[44] क्योंकि वही इच्छा, ज्ञान, क्रिया — इन प्रमुख शक्तियों का ज्ञान कराती है।[45] यही प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणों का मूल है।[46] जैसे कोई कामिनी पहले से प्रार्थित प्रियतम को पास पाकर भी उसे अपरिचित होने के कारण जनसाधारण समझकर प्यार नहीं कर पाती उसी प्रकार हम अपनी आत्मा के ऐश्वर्य से अपरिचित रहकर पूर्णता का भान नहीं कर पाते। कोई गुरु या शास्त्र हमें बता दे, जैसे कि कामिनी को दूती, या फिर हमें खुद अपनी ज्ञान-क्रिया रूप शक्ति का अभिज्ञान हो जाये तो हमें पूर्णता या जीवन्मुक्ति मिलेगी, साथ ही उस पूर्णता में समा जाने का रस भी आएगा।[47] शंकर को पाने के लिए तपस्या में निरत पार्वती ब्रह्मचारी के वेश में आये हुए शिव को पहचान नहीं पाती। शंकर की निन्दा करने वाले इस ब्रह्मचारी को वह अपनी सखी से आश्रम से बाहर निकालने को भी कह देती है (निवार्यतामालि किमप्ययं वटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः— कुमारसंभव, पंचम सर्ग), पर ज्यों ही शिव स्वयं को प्रकट करते हैं, पार्वती की अंगयष्टि रोमांच और रस से भर जाती है (तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसांगयष्टिः — वही)। कालिदास ने इस प्रसंग से प्रत्यभिज्ञा और उनमें होने वाली चमत्कारमयी रसानुभूति का संकेत दिया है। प्रत्यभिज्ञा का अभिज्ञान बाह्य नहीं है, बल्कि आन्तर प्रीति है। शकुन्तला का बाह्य अभिज्ञानों द्वारा दुष्यन्त को प्रतीति दिलाने का सारा प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है। इसीलिए दुष्यन्त द्वारा मारीच आश्रम में अंगुलीयक को देते समय वह कहती है— इसने बहुत बुरा किया, मैं इसका विश्वास नहीं करती। यहां वस्तुतः शकुन्तला की प्रत्यभिज्ञा दुष्यन्त को करनी है और वह भरत और तापसियों की सहायता से शकुन्तला का प्रत्यभिज्ञान करता है। मानो कुमारसंभव में शिव की प्रत्यभिज्ञा है और अभिज्ञानशाकुन्तल में शक्ति की। रघुवंश का प्रथम श्लोक पार्वती-परमेश्वर की इसी प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतिपत्ति का मंगल आचरण है। यह प्रत्यभिज्ञान अन्धकार के दूर होने के बाद बुद्धि-दर्पण के निर्मलीभाव के बाद ही सम्भव है। इसीलिए कालिदास ने कहा है—

छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे
शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा। (अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 7.32)

साहित्यालोचन के क्षेत्र में इस प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त की ओर ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्यान दिलाया है। महाकवि के शब्द और अर्थ की यत्नपूर्वक पहचान करनी चाहिए : **यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः।** शब्द और अर्थ के सामरस्य को या वागर्थसंपृक्ति को जाने बिना साहित्य की प्रत्यभिज्ञा सम्भव नहीं है। काश्मीर का काव्यशास्त्र भामह से लेकर शब्द और अर्थ के सहभाव की विभिन्न

सिद्धान्तों के रूप में व्याख्या करता रहा है। जैसे कि शिव-शक्ति के अविनाभाव की व्याख्या वहां का दर्शन करता रहा है। कोई भी बीज सहकारी कारण-सामग्री के रहने पर स्वयं अंकुरित हो जाता है, उसे पहचानना आवश्यक नहीं है। यह अंकुरण-रूप अर्थक्रिया बाह्य है, उसमें प्रत्यभिज्ञा की अपेक्षा नहीं है, पर प्रीति की अर्थक्रिया आध्यात्मिक है, उसके लिए प्रत्यभिज्ञा आवश्यक है।[48]

दार्शनिक आलोचना के दो प्रकार हैं। पहला प्रकार अपने से भिन्न मत-मतान्तरों को सर्वथा अस्वीकार्य कर उसके खण्डन का है। यह खण्डनात्मक प्रकार है। दूसरा तरीका दार्शनिक विकास को सोपान-क्रम से स्वीकार करने का है। दोनों ही रूपों में अपना सिद्धान्त उत्तरपक्ष और श्रेष्ठ माना जाता है और दूसरे सभी पक्ष पूर्वपक्ष बन जाते हैं।[49] ज्ञान की विकास-परम्परा पर दृष्टि डालें तो यही प्रतीत होता है कि एक दृष्टि ने दूसरी दृष्टि के निर्माण में सहकार किया है। आचार्य शंकर बौद्धों का प्रबल खण्डन करते हैं, किन्तु उनसे वे ग्रहण भी करते हैं। सांख्य वेदान्त का खण्डन करता है किन्तु विज्ञानभिक्षु उससे बहुत-कुछ स्वीकार भी करते हैं। शैव दार्शनिक अपने से भिन्न सभी दर्शनों को निश्चित रूप से पूर्वपक्ष मानता है और अपने को सभी का उत्तरपक्ष। इसी अर्थ में उन अनेक कथनों की संगति है जिनमें कुल या त्रिक को सर्वोत्तम घोषित किया गया है और शेष सभी को अवर।[50] पर इस दर्शन की विशेषता यह है कि दूसरी दृष्टियों को अवर मानते हुए भी दर्शन की विकास-यात्रा में या कि तर्क और अनुभव के परिशीलन में उन्हें अपनी दृष्टि से सोपान बनाया है। इसी अभिप्राय से क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञाहृदय में कहा है कि दर्शन की सारी स्थितियां संवित् की विभिन्न भूमिकाएं हैं—**तद्भूमिकाः सर्वदर्शन-स्थितयः**। प्रत्यभिज्ञाहृदय के अनुसार चार्वाक का तत्त्वज्ञान शरीर तक सीमित है, नैयायिक, मीमांसक और बौद्धों का बुद्धिवृत्तियों तक, भावात्मक वेदान्तियों का प्राण तक, अभाव ब्रह्मवादियों एवं माध्यमिकों का शून्य तक, पांचरात्र का अव्यक्त तक, सांख्यादि का विज्ञानाकल की अनुभव-भूमिका तक, कुछ अन्य वेदान्तियोंका ईश्वर-तत्त्व तक, शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणों का पश्यन्ती तक सीमित है। इसी प्रकार दूसरे दर्शनों की स्थितियों की आलोचना की जा सकती है।[51] इस दृष्टि से कोई भी तर्क या अनुभव सर्वथा अग्राह्य नहीं है। यह विवेचन आत्मतत्त्व और उसके अनुभव को केन्द्र में रखकर किया गया है। शैवदर्शन की दार्शनिक आलोचना की यह पद्धति आगमों के प्रादुर्भाव-काल से प्रचलित है।[52]

दूसरे दर्शनों को अपने से निचली सीढ़ी बताना या उनकी भिन्न भूमिका का उल्लेख करना या स्पष्ट रूप में विरोध का प्रतिपादन करना, एक ही बात है। वह त्रिकदर्शन की निजी विशेषता अवश्य स्थापित करता है।[53]

संदर्भ

1. अन्तर्गतविश्ववीर्यसमुच्छलत्सत्तात्मकविसर्गविश्लेषानन्दशक्त्येकघनं ब्रह्म, बृहद् व्यापकं बृंहितं च न तु वेदान्तपाठकांगीकृतकेवलशून्यवादाविदूरवर्तिब्रह्मदर्शन इद ।—परात्रीशिकाविवृत्ति, पृ० 229
2. इदं द्वैतमिदं नेति तदिदं च द्वयाद्वयम् ।
   इति यत्र समं भाति तदद्वयमुदाहृतम् ।।—मालिनीविजयवार्तिक, 1.262
3. इदं हि तत् पराद्वैतं भेदत्यागग्रहौ न तत् ।—वही, 1.123
4. उच्यते नाद्वयेऽमुष्मिन् द्वैतं नास्त्येव तत्त्वतः ।
   उक्तं हि भेदबन्ध्येऽपि विधौ भेदावभासनम् ।।—वही, 1.108
5. अतएव हि भेदोऽस्ति न कश्चिद्यो महेश्वरम् ।
   अद्वयं सम्प्रभिन्दीत प्रकाशानदसुन्दरम् ।।—वही, 1.621
6. अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः ।
   घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ।।—तन्त्रालोक, 2.19
7. एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेश्वरस्वरूपतः ।
   न भिद्येते न मेरौ हि तत्त्वतः परमेश्वरे ।।—बोधपंचदशिका 14
8. अतएव भेदाभेदयोर्विरोधं दुःसमर्थमभिमन्यमानैरेकैरविद्यात्वेनानिर्वाच्यत्वमपरैश्चाभासलग्नतया सांवृतत्वमभिदधद्भिरात्मा परश्च वंचितः ।
   —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 2.3.14
9. चिद्रूपस्यैकत्वं यदि वास्तवं भेदः पुनरयमविद्योपप्लवोदित्युच्यते तदा कस्यायमविद्योपप्लव इति न संगच्छते । ब्रह्मणो हि विद्यैकरूपस्य कथमविद्यारूपता । न चान्यः कश्चिदस्ति वस्तुतो जीवादिर्यस्याविद्या भवेत् ।—वही, 2.4.20
10. तत्र हि अद्वैतमाग्रहेणोपपाद्यमानमपि द्वैतकक्ष्यामेवाधिरोहति यदत्र सत्यासत्यव्यवस्थया हेयोपादेयकल्पनायां तेनैवाकारेण द्वैतमर्यादायां पर्यवसायित्वमनिवार्यम् । परिमल, महार्थमंजरी-टीका, पृ० 52
11. द्र० शिवदृष्टि, 5.105-109
12. एवं सर्वेषु भावेषु सर्वसाम्ये व्यवस्थिते ।
    तेन सर्वगतं सर्वं शिवरूपं निरूपितम् ।। वही, 5.110
13. तत्र च यद्यपि तत्त्वतः शिवपरमशिवयोरैक्यमेव तथापि स्वरूपनिर्देशाभिप्रायेण अनाश्रितशिवत्वेन कथनम् ।—भास्करी, 2.212
14. शक्तिश्च नाम भावस्य स्वरूपं मातृकल्पितम् ।
    तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परिकल्पते ।।—तन्त्रालोक, 1.109
    वीरशैव भी शक्ति को शिव की सहधर्मिणी, साक्षिणी और निर्विकल्प महेश्वरी कहते हैं—

शक्तिरप्रतिमा साक्षात् शिवेन सहधर्मिणी ।
साक्षिणी सत्यसंपूर्णा निर्विकल्पा महेश्वरी ।।—अनुभवस्तोत्र, 2.20
नाथसंप्रदाय के अनुसार शिव का अभ्यन्तर शक्ति है, और शक्ति या शिव, इन दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है जैसे कि चन्द्र और चन्द्रिका में—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।—सिद्धसिद्धान्तसंग्रह, 4.37

15. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1.203

16. (क) उक्तं च कामिके देवः सर्वाकृतिर्निराकृतिः ।—तन्त्रालोक, 1.104
(ख) सर्वाकृतिः विश्वमयः निराकृतिः विश्वोत्तीर्णः ।—वही, विवेक

17. (क) चित्तमात्रमिदं विश्वमिति या देशना मुनेः ।।
तत्त्रासपरिहारार्थं बालानां सा न तत्त्वतः ।
सापि ध्वस्ता महाभागैश्चित्तमात्रव्यवस्थितिः ।।—तंत्रालोक, 1.66
(ख) बौद्धाः एकमेव संविद्रूपं हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तं पश्याम इत्याद्युक्त्या बुद्धिवृत्त्यात्मकं ज्ञानमेव तत्त्वं प्रतिपन्नाः इति बुद्धितत्त्वावाप्तिरेवैषां मोक्ष···।—वही, विवेक

18. सांख्यपातंजलयोः प्रकृतिपृथग्भावेन पुंज्ञानस्य साम्येऽपि सांख्येभ्यः पातंजलानामीश्वरप्रणिधानात् तद्विशिष्यते इति तेषां पुंस्तत्त्वोर्ध्ववर्तिनियतितत्त्वप्राप्तिरुक्ता ।—तन्त्रालोक, 1.70 पर विवेक

19. दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम् । —जैमिनिसूत्र, 1.1.1
तस्य ज्ञानमुपदेशः । वही, 1.1.5

20. (क) ममैवांशो जीवलोको···
(ख) यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।—गीता, 15.7, 10.41

21. एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा ।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्त्यो मद्विभूतयः ।।

22. सभ्यो नटो विभावादिभावाः रंगः स्वयं भवन् ।
स्वचरित्रानुकारेण स्वमेव भजते रसम् ।।—विंशतिशास्त्र, 13

23. द्र० शिवसूत्र, 3.9, 1.13

24. चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।।—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 1.5.7

25. अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्षद् घटादिवत् ।। तन्त्रालोक, 3.100-1

26. अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत् ।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ।। —बोधपंचदशिका, 7

27. (क) माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ।।—तंत्रालोक, 6.116

(ख) एकरसे स्वभावे उद्भावयन्ती विकल्पशिल्पानि ।
मायेति लोकपतेः परमस्वतन्त्रस्य मोहिनी शक्तिः ।।

—महार्थमंजरी, 17

28. इह तावत्स्वप्नस्मरणमनोराज्यसंकल्पादिषु नीलाद्याभासवैचित्र्यं बाह्यसमर्पक-हेतुव्यतिरेकेणैव निर्भासते···यत्पुनरिदं योगिनामिच्छामात्रेण पुरसेनादिनिर्माणं दृष्टम्, तत्रोपादानं प्रसिद्धमृत्काष्ठशोणितादिवैचित्र्यमयं न संभवत्येव···तदस्ति संभवः यत् संविदेवाभ्युपगतस्वातन्त्र्यलक्षणादिच्छाविशेषादन्तःस्थितमेव भावजातमिदमित्येव बाह्यत्वेनाभासयति ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1, पृ० 182-84

29. सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।।

30. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ।।

—ईश्वरथत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 4.1.12

31. आभासरूपा एव जडचेतनपदार्थाः ।—प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 3.2.1

32. (क) अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोधः परं निजविमर्शरसानुवृत्त्या विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।

—तन्त्रसार, पृ० 19

(ख) विश्वप्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः । —वही, पृ० 11

(ग) निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः ।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः ।।—तन्त्रालोक, 3.4

(घ) दर्पणबिम्बे यद्वन्नगरग्रामादि चित्रमविभागि ।
भाति विभागेनैव च परस्परं दर्पणादपि च ।।
विमलतमपरमभैरवबोधात् तद्वद् विभागशून्यमपि ।
अन्योन्यं च ततोऽपि च विभक्तमाभाति जगदेतत् ।।

—परमार्थसार, 12-13

किसी दूसरे से बिना मिश्रित हुए जो स्वतन्त्र रूप में भासित होता है उसे बिम्ब और जो भेद-रूप में भासित होता है और किसी से व्यामिश्रित होकर ही भासित होता है वह प्रतिबिम्ब है। मुख बिम्ब है और दर्पण में संक्रान्त मुखरूप

प्रतिबिम्ब का उदाहरण है—

(अ) अन्यामिश्रं स्वतन्त्रं सद्भासमानं मुखं यथा ।—तंत्रालोक, 3.53

(ब) यद्भेदेन भासितुमशक्तमन्यव्यामिश्रत्वेनैव भाति तत् प्रतिबिम्बम् मुखरूपमिव दर्पणे ।—तन्त्रसार, पृ० 10

रूप की तरह स्पर्श आदि का प्रतिबिम्बन भी होता है किन्तु इसके आधार भिन्न होते हैं जैसेकि स्पर्श का प्रतिबिम्बन आनन्द-स्थान कन्द में होता है, शब्द का प्रतिबिम्बन प्रतिशब्द कहलाता है (तन्त्रालोक, 3.24-26)। इसी प्रकार रस और गन्ध का भी प्रतिबिम्बन स्वीकार किया गया है।

33. (क) चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमेशितुः ॥
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० 204

(ख) एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण विद्यते ।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ॥
—तन्त्रालोक, 1.107

(ग) वस्तुतः पुनरप्यहंप्रत्यवमर्शात्मा स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्यास्ति ।
—तन्त्रालोक, 1.108 पर विवेक

(घ) स चायं स्वतन्त्रस्तदेवास्य पारमैश्वर्यं मुख्यमानन्दमयं रूपम् ।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 1.31-2

34. अज्ञानं मलमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् ।—मालिनीविजयतन्त्र, 1.23

35. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चातिप्रसंगतः ।
स हि लोष्टादिकेऽप्यस्ति न तस्यास्ति संसृतिः ॥
अतो ज्ञेयस्य तत्त्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ॥—तन्त्रालोक, 1.25, 26

36. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 3.2.4

37. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम् ।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत् त्रयम् ॥—वही, 3,2.5

38. मायीयमिति संज्ञामात्रम् । मायाकृतत्वेन मायीयता मलत्रयस्यापि ।—वही

39. ज्ञानानस्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधा पौरुषबौद्धत्वभिदोक्तं शिवशासने ॥
तत्र पुंसो यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथ ।
स्वपूर्णचित्क्रियारूपशिवतावरणात्मकम् ॥
संकोचि यत्क्रियारूपं तत्पशोरविकल्पितम् ।
तदज्ञानं न बुद्ध्यंशेऽध्यवसायाद्यभावतः ॥—तन्त्रालोक, 1,36-38

40. अहमित्थमिदं वेद्मीत्यध्यवसायतः ।
षट्कंचुकाविलाणूत्थप्रतिबिम्बनतो यदा ।।
धीर्जायते तदा तादृग् ज्ञानमज्ञानशब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत् पौस्नं पोषणीयं च पोष्ट्र च ।

41. प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाश. प्रत्यभिज्ञा । प्रतीपं स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वो विच्छिन्नप्रकाशत्वात् स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न इव विकल्पित इव लक्ष्यते । प्रत्यभिज्ञा च भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका "स एवायं चैत्र" इति प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम् ।

—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, पृ० 37

42. स्फुटतरं भासमाना ये नीलसुखादयस्तेषां प्रमाया अन्वेषणेन किंमूला इति विचारणेन बाह्यप्रमाविचारे क्रियमाणे तन्मूलभूतस्य प्रमातुरयत्नं सिद्ध्यति घटान्वेषणेन मृदः ।—भास्करी, खण्ड 1, पृ० 38

43. किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्युपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ।।—प्रत्यभिज्ञा, 1.1.2

44. ईश्वररूपस्वात्मप्रत्यभिज्ञा । —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, खण्ड 1, पृ० 301

45. इच्छाज्ञानक्रियाणां प्रकाशकेन प्रत्याभिज्ञारूपेण शास्त्रेण ।—वही, पृ० 143

46. प्रत्यक्षानुमानागममूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य ।—वही, खण्ड 2, पृ० 195

47. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।।

—प्रत्यभिज्ञाकारिका, 4.1.17

48. न हि बीजमप्रत्यभिज्ञातं सति सहकारिसाकल्ये नांकुरं जनयति, तत् क्व आत्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्धः? उच्यते, द्विविधार्थक्रियास्ति, बाह्या चांकुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा च प्रीत्यादिरूपा । तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते द्वितीया तु तदपेक्षते एव ।—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, 4.1.16

49. पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः ।
अभेदोत्तरपक्षान्तं नीयते तं स्तुमः शिवम् ।।—वही, भाग 1, पृ० 82

50. वेदादिभ्यः परं शैवं शैवाद्वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात्परतरं नहि ।।
वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ।।—तन्त्रालोक विवेक, 1.18

51. 'चैतन्यविशिष्टं शरीरमात्मा' इति चार्वाकाः । नैयायिकादयो ज्ञानादिगुणगणाश्रयं बुद्धितत्त्वप्रायमेव आत्मानं संसृतौ मन्यन्ते । अपवर्गे तु तदुच्छेदे शून्यप्रायम्।

अहंप्रतीतिप्रत्येयः सुखदुःखाद्युपाधिभिः तिरस्कृत आत्मेति मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टाः। ज्ञानसंतान एव तत्त्वं इति सौगता बुद्धिवृत्तिष्वेव पर्यवसिताः। प्राण एवात्मेति केचित् श्रुत्यन्तविदः। असदेव इदमासीदित्यभाव-ब्रह्मवादिनः शून्यभुवमवगाह्य स्थिताः। माध्यमिका अपि एवमेव। परा प्रकृतिर्भगवान् वासुदेवः, तद्विस्फुलिंगप्राया एव जीवा इति पांचरात्राः परस्याः प्रकृतेः परिणामाभ्युपगमात् अव्यक्त एवाभिनिविष्टाः। सांख्यादयस्तु विज्ञाना-कलप्रायां भूमिं अवलम्बन्ते। सदेव इदमग्र आसीत् इति ईश्वरतत्त्वपदमाश्रिता अपरे श्रुत्यन्तविदः। शब्दब्रह्ममयं पश्यन्तीरूपं आत्मतत्त्वमिति वैयाकरणाः श्रीसदाशिवपदमध्यासिताः। एवमन्यदपि अनुमन्तव्यम्। (प्रत्यभिज्ञाहृदय, सूत्र 8 के अन्तर्गत।)

52. बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वेवार्हताः स्थिताः।
स्थिता वेदविदः पुंसि अव्यक्ते पांचरात्रिकाः॥
वैष्णवाद्यास्तु ये केचित् विद्यारागेण रंजिताः।
न विदन्ति परं देवं सर्वज्ञं ज्ञानशालिनम्॥—वही

53. उत्पल ने शिवदृष्टि-वृत्ति में शैवाद्वैत का अन्य दर्शनों से विरोध और उसके आधार का स्पष्ट उल्लेख किया है।

(क) नानादर्शनैश्चास्मिन् शैवाद्वैते नो विरोधः।—पृ० 122

(ख) न हि सर्वत्र दर्शने सर्वैरर्थैस्तुल्यैर्भाव्यम् तथाहि वैशेषिकेषु ईश्वर एव विश्वकर्ता, न तु पृथिव्यादिद्रव्यम्। बौद्धदर्शने ज्ञानमेव स्वपरप्रकाशकं, न रूपादि। ते जैमिनीया जल्पन्ति चोदनैव नियमेन धर्मविषये प्रमाणम् इति, न तु प्रत्यक्षादिकम्।---शिवदृष्टिवृत्ति, पृ० 163

साधना

जिस प्रकार शिव ज्ञानात्मक तथा क्रियात्मक हैं उसी प्रकार साधना भी ज्ञानात्मिका एवं क्रियात्मिका है। परम शिव निग्रह (तिरोधान) के द्वारा अपने स्वरूप का गोपन करते हैं और अनुग्रह के द्वारा प्रकाशन। किसी भी साधना की समझ के लिए तीन उपाय हैं—गुरु, शास्त्र और स्वयम्।[1] जिससे दीक्षा, मन्त्र-शास्त्र तथा तत्त्वज्ञान प्राप्त होता है वह गुरु है। गुरु स्वयं शिव हैं जो अपनी अनुग्राहिका शक्ति से शिष्य को दीक्षा प्रदान करते हैं।[2] लौकिक गुरुओं में उसे उत्तम कहा गया है जो पदवाक्य-प्रमाणज्ञ हो, समस्त शास्त्रार्थ का वेत्ता हो, शिवभक्ति में तत्पर हो और जिसमें करुणा का भाव हो (द्र० तन्त्रालोक, 23, 6-7)। जो गुरु कर्म, योग और ज्ञान तीनों में निपुण होता है वह उत्तरोत्तर भूमि के आधार पर उत्कृष्ट कहलाता है (द्र० वही, 15.19)। गुरु के अनेक भेद माने गये हैं—सांसिद्धिक, यौगिक तथा अकल्पित कल्पक आदि (द्र० वही, 4.51)। सर्वोत्कृष्ट गुरु वह है जिसमें सत्तर्क के उदय का हेतु शिव का शक्तिपात है। इसके भी उत्कृष्ट, मध्य, मन्द आदि उपाय-भेद से अनेक भेद माने गये हैं। शास्त्र की सहायता से जो सत्तर्क प्राप्त करता है वह अकल्पित-कल्पक गुरु है। कल्पिताकल्पक गुरु वह है जिसे किसी शास्त्र का आकस्मिक बोध होता है (द्र० वही, 4.72)। सांसिद्धिक गुरु को गुरु और शास्त्र की अपेक्षा नहीं होती जबकि कल्पित गुरु को होती है।

दीक्षा के दो धर्म हैं दान और क्षपण। ज्ञान का देना (दीयते) और पशुभावना का क्षय (क्षा) दीक्षा कहलाती है।[3] शिष्य को शिवत्व की प्राप्ति कराना दीक्षा का प्रयोजन है। दीक्षा एक प्रकार का आत्मसंस्कार है। दीक्षा के अनेक आधारों पर कई प्रकार के भेद बताये गये हैं, पर साथ ही यह भी कहा गया है कि सभी दीक्षाओं का प्रयोजन चूंकि मल का ध्वंस है अतः उनके फल में कोई भेद नहीं है।[4] सिद्धान्त के अनुसार दीक्षा होत्री है, तन्त्र के अनुसार योजनिका, त्रिक के अनुसार समावेशमयी, कुल के अनुसार स्तोभरूपा तथा कौलनय के अनुसार सामरस्यमयी। ये सम्प्रदाय के आधार पर दीक्षा के पांच रूप हैं। दीक्षा के द्वारा अनुग्राह्य प्रमाता —विज्ञानाकल, प्रलयाकल तथा सकल हैं। प्रथम में केवल मल रहता है, दूसरे में मल के कर्म रहते हैं, सकल कला से पृथ्वी-तत्त्वपर्यन्त तत्त्वों से युक्त होता है। प्रचम, दो की दीक्षा

'निराधारा' है क्योंकि स्वयं शम्भु बिना आचार्य की अपेक्षा किये तीव्र शक्ति-निपात से यह दीक्षा प्रदान करते हैं। आचार्य के द्वारा दी जाने वाली दीक्षा साधार है; यह साधार दीक्षा सबीज, निर्बीज, साधिकार, निरधिकार भेद से चार प्रकार की है। समय और आचार से युक्त दीक्षा सबीज और समय तथा आचार से रहित असमर्थ व्यक्ति को दी जाने वाली दीक्षा निर्बीज कहलाती है। जिसमें नित्य, नैमित्तिक तथा काम्यकर्म करने का अधिकार है वह 'साधिकार' दीक्षा है। यह साधक और आचार्य के लिए की जाती है। जिनका केवल नित्यकर्म में अधिकार है, उनको दी जाने वाली दीक्षा 'निरधिकार' कहलाती है। इनमें से प्रत्येक के दो भेद हैं—क्रियावती दीक्षा और ज्ञानवती दीक्षा। क्रियावती में कुण्डमण्डलादि होते हैं और ज्ञानवती में मनोव्यापारमात्र होता है। आचार्य के रूप में अभिषिक्त को दूसरे व्यक्तियों को दीक्षा देने का अधिकार प्राप्त हो जाता है।[5] यह भी उल्लेखनीय है कि दीक्षा किसी विधि का प्रारंभ-भर नहीं है अपितु उसके द्वारा शिष्य को पार लगाना है – **शैवं धाम नयत्यपि**। आगम के चार पाद होते हैं—ज्ञान, क्रिया, चर्या तथा योग। इसीके अनुसार चार प्रकार के अधिकारी भी होते हैं—ज्ञानयोग्य, क्रिया-योग्य, चर्यायोग्य तथा योगयोग्य।[6] अन्तिम तीन को क्रिया का ही विभाग मानकर प्रमुख रूप से ज्ञान व क्रिया के दो विभाग मानना उचित होगा।[7] इस प्रकार ज्ञान व क्रियादि की प्रधानता के आधार पर भी दीक्षा की योग्यता का निर्धारण किया गया है। एक दूसरा विभाग समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य के रूप में दीक्षा देने का है। जो व्यक्ति समय (सिद्धान्त, आचार) का पालन करते हुए क्रमशः शिवत्व को प्राप्त कर लेता है वह **समयी** कहलाता है। जो शीघ्र और बिना क्रम के शिवत्वलाभ करता है वह **पुत्रक** कहलाता है।[8] **साधक** क्रम और अक्रम दोनों प्रकार से भोग-प्रधान दीक्षा का अधिकारी होता है। **आचार्य** भोग एवं मोक्ष दोनों की एकसाथ साधना करता है।[9] साधक दो प्रकार के होते हैं—शिवधर्मी तथा लोकधर्मी। शिव-धर्मी ज्ञानवान्, अभिषिक्त तथा मन्त्रप्रवण होता है। लोकधर्मी साधक लोकोपकारी इष्टापूर्त विधि में निरत रहता है, कर्मों का कर्ता तथा फल का आकांक्षी होता है अशुभ को छोड़कर शुभ में निरत रहता है और वह मन्त्र के द्वारा अशुभ को विनष्ट करने का कार्य करता रहता है।[10] शिवधर्मी तथा लोकधर्मी—इन दो प्रकार के साधकों की तुलना ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी से की जा सकती है। लोकधर्मी साधक न केवल लोकोपकारी कार्य करता है अपितु वह लोक द्वारा स्वीकृत नीतिमार्ग का भी अनुपालन करता है। अर्थात् वह विधिनिषेध के नैतिक क्षेत्र से परे नहीं जाता। शिवधर्मी को लोकधर्मी से परे माना जा सकता है और उसकी तुलना निष्काम ज्ञान-योगी से की जा सकती है। लोकधर्मिणी दीक्षा न केवल इस जन्म के अपितु प्राक्तन एवं आगामी अधर्मों का भी क्षय करती है। राह या लीक पर चलने वाला व्यक्ति समयी है, लीक को छोड़कर चलने वाला पुत्रक है। साधक वह है जिसकी भूख

(भोगेच्छा--व्यक्तिनिष्ठ एवं समाजनिष्ठ) मिटी नहीं है। इसलिए उसे बुभुक्षु कहा गया है। उसकी व्यक्तिनिष्ठ भोगेच्छा उसे शिवधर्मी एवं समाजनिष्ठ बुभुक्षा साधक को लोकधर्मी बनाती है। आचार्य वह है जिसमें भुक्ति व मुक्ति दोनों का समन्वय होता है। कुछ लोग राह चलते-चलते लीक को छोड़ भी देते हैं। और तब समयी पुत्रक बन जाता है और वही साधक और आचार्य भी। यह आवश्यक नहीं है कि समयी से पुत्रक और उसके बाद साधक और आचार्य बने, यह क्रम से भी सम्भव है और अक्रम से भी।[11]

दीक्षा का एक प्रमुख रूप असहाय, असामान्य एवं मरणासन्न व्यक्ति के उद्धार से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत विक्षिप्त (विविध) दीक्षा (द्र० तन्त्रालोक, आ० 17), आसन्नमरण, मुमूर्षु, वृद्ध, अशक्त व्यक्ति एवं बालक के लिए है; यह भी भैरव से तादात्म्य स्थापित करती है। यह निर्बीज है क्योंकि लोकानुग्रह के अतिरिक्त इसका कोई हेतु नहीं है। इसी प्रकार जिसके प्राण न निकल रहे हों और जो आचार्य के पास पहुँचने में भी असमर्थ है उसके उद्धार का विधान सद्यः समुत्क्रान्तिप्रदा दीक्षा (तन्त्रालोक 19.4-6, 13, 234) द्वारा किया गया है।[12] परोक्ष में स्थित जीवित या मृत व्यक्ति, जिसका उद्धार सम्भव नहीं हो पाया है, उसके उद्धार का विधान मृतोद्धारी परोक्ष दीक्षा (वही, 21, 6-10) में किया गया है। ये दीक्षाएं उद्धार-योग्य व्यक्ति के मित्रों या सम्बन्धियों की प्रार्थना पर परोक्षतः संपन्न की जा सकती हैं।

परोक्ष और मृत व्यक्ति की दीक्षा में गुरु स्वयं अपनी क्रिया और ज्ञान की महिमा से शिष्य को अपने इष्ट-धाम में ले जाता है।[13] जो व्यक्ति दूसरे धर्म या सम्प्रदाय में अनुरक्त है और जिसे शैव साधना पर विश्वास नहीं है, उसमें विश्वास उत्पन्न करने के लिए दी जाने वाली दीक्षा सप्रत्यया या तुलादीक्षा कहलाती है। इस दीक्षा का सर्वप्रथम उपदेश शम्भुनाथ ने अभिनवगुप्त को दिया था। उन्होंने इसका निरूपण तन्त्रालोक के बीसवें आह्निक में (जो अत्यन्त संक्षिप्त है) किया है।[14]

आनन्दशास्त्र में लिंगोद्धार दीक्षा का स्फुट प्रतिपादन किया गया था जिसका संकेत अभिनवगुप्त के अनुसार श्रीमालिनीविजय से प्राप्त होता है।[15] यह दीक्षा अन्य वैष्णवादि सम्प्रदायों में प्राप्त नहीं होती और यह शैवशास्त्र की विशेषता तथा उत्तमता की ज्ञापक है। अभिनव का कथन है कि दूसरे शास्त्रों में पतित व्यक्ति का शैव दीक्षा से उद्धार सम्भव है किन्तु इससे पतित व्यक्ति का अन्यत्र उद्धार सम्भव नहीं होता।[16] तन्त्रालोक के बाईसवें आह्निक की अपनी व्याख्या का प्रारंभ करते हुए विवेककार जयरथ ने लिंगोद्धार दीक्षा को दुष्ट जनों की कुसंस्कृति का संहरण '**दुर्वृत्तजनकुसंगतिसंहरण**' माना है। दूसरे सम्प्रदाय या धर्म में आश्वस्त व्यक्ति का शैव संस्कार ही लिंगोद्धार है।[17] यह तभी होता है जब व्यक्ति का हृदयकमल शिव-सूर्य के किरण-समूह से विकसित हो जाता है। लिंगोद्धार के अनन्तर दीक्षा का

विधान है। लिंगोद्धार की इतिकर्तव्यता में प्रथम दिन उपवास और दूसरे दिन आधार मन्त्र से स्थण्डिल-पूजन, अनुग्रह के लिए निवेदन ताकि अपने सम्प्रदाय को छोड़ने का उसे प्रायश्चित्त न हो, स्नान, अर्घ्यपात्र का जल से संप्रोक्षण, पंचगव्य तथा दन्तकाष्ठ का समर्पण और फिर शिष्य के द्वारा प्रणिपात होता है।[18] प्रणव, मातृका, माया आदि सात साधारण मन्त्रों में से एक मन्त्र शिष्य को प्रदान किया जाता है जिसका वह बिना कुछ खाये या थोड़ा-सा खाकर, एक दिन (अहोरात्र) जप करता है तदनन्तर वह्नि में उस मन्त्र का तर्पण करने के बाद उसके व्रत की शुद्धि होती है। उसके पश्चात् तीसरे दिन दीक्षाकर्म के पूर्व पातक-च्युति का विधान है। शिष्य को प्रदत्त मंत्र से उसके नाम का संपुट किया जाता है तथा उस संपुटित मन्त्र में फट् और स्वाहा लगाकर "मैं प्रायश्चित्त का शोधन करता हूँ" इस व्याहृति के साथ सौ बार या हजार बार हवन कर पूर्णाहुति दी जाती है, उसके बाद व्रतेश्वर की आह्वानपूर्वक अर्चना 'ॐ व्रतेश्वराय नमः', 'ॐ व्रतेश्वराय स्वाहा' से की जाती है और अन्त में व्रतेश्वर का विसर्जन क्षमा-प्रार्थना के साथ किया जाता है।[19] तीसरे दिन दीक्षा दी जाती है। उसकी विधि वही है जो कि समय-दीक्षा की है, जिसका प्रारम्भ अधिवास से होता है।

समयी दीक्षा में अधिकांश तान्त्रिक विधियों का उल्लेख है, दीक्षा के शेष प्रकारों में इससे न्यूनाधिक भेद हैं। वस्तुतः इस दीक्षा में सभी का समान अधिकार है और मल के कुछ पक्व होने के साथ ही दीक्षा दी जा सकती है। दीक्षा के समय गुरु में यह भावना होना आवश्यक है कि मैं भी शिव हूं और शिष्य भी शिव है।[20] साधना में आन्तर और बाह्य दोनों का समन्वय रहना चाहिए क्योंकि सिद्धि ज्ञान व क्रिया के योग से ही प्राप्त होती है।[21] नित्य कर्म को समाप्त करने के पश्चात् दीक्षा विधि का प्रारम्भ आचमन, मार्जन, न्यास और एकाक्षरी मालिनी के जप से होता है। इनके अतिरिक्त अन्य कृत्य भी इस दीक्षा के अंग हैं।[22] गुरु सबसे पहले शिष्य के पाशों को जलाने के लिए ध्यानयोग से विश्रान्ति स्थान तक पहुंचाने के लिए, उसके माथे पर अपना हाथ रखता है। इसी को शिवहस्त कहते हैं।[23] इसके पश्चात् शिष्य याग के लिए स्थापित कलश, अग्नि तथा गुरु को प्रणाम कर भूत और मातृगणों के लिए बलि का निक्षेप करता है। शंकर की अर्चना करने के बाद शिष्य को प्रणव से अभिमन्त्रित शय्या पर मन्त्रन्यासपूर्वक लिटाकर उसके हृच्चक्र को विश्रान्ति प्रदान कर उसे द्वादशान्त में पहुंचा देता है। सोलह कलाओं से पूर्ण, चैतन्यरूपी चन्द्र से युक्त गुरु शिष्य के हृदय में निद्रा से व्युत्थानपर्यन्त निवास करता है। और पुनः द्वादशान्त से हृच्चक्र में प्रवेश करता है। इस निद्रा विधि[24] के द्वारा ही निद्रित शिष्य पूर्ण और कृश सूर्य-चन्द्र (प्राण-अपान) का हृच्चक्र में बलात् प्रतिसन्धान कर लेता है। इसी कारण वह सत्य का ईक्षण कर पाता है जिससे स्वप्न में उसे भावी शुभ और अशुभ का स्फुटतया ज्ञान होने लगता है।[25] जिस शिष्य का गुरु के साथ बोध-

साम्य होता है उन्हें एक ही प्रकार के स्वप्न आते हैं। शिवहस्त विधि[26] एवं निद्रा-विधि के अनन्तर गुरु मन्त्रपूर्वक देवता की अर्चना का उपदेश देता है जिसका शिष्य पालन करता है। इसके अनन्तर गुरु शिष्य का संस्कार हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट तथा ब्रह्मरन्ध्र (द्वादशान्त) में स्थित ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, शिव का प्राणवृत्ति से स्पर्श करके करता है। इस क्रिया में प्राणवृत्ति का विश्राम द्वादशान्त में नहीं होता बल्कि तुरंत द्वादशान्त से हृदय तक अवरोहण की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। गुरु शिष्य के देह में प्रविष्ट होकर अपनी प्राणवृत्ति से इस क्रिया को निष्पन्न करता है। प्रत्येक स्थान और उसके अधिष्ठातृ देवता (जैसेकि हृदय और ब्रह्मा) के स्पर्श के समय आठ संस्कार होते हैं और इस प्रकार कुल 48 संस्कार किये जाते हैं जिनमें चार आश्रमों के संस्कारों के साथ आत्मगुण, दया, क्षमा आदि विशेष रूप से सम्मिलित हैं।[27]

आश्रम-संस्कारों से निवृत्ति के लिए इन संस्कारों का समयतः विधान[28] है। यह विधि शिष्य में पहले द्विजत्व की स्थापना करती है और उसके बाद उसमें रुद्रांश का आपादान करती है। इस प्रकार समयी दीक्षा का प्रमुख रूप शिवहस्तविधि, निद्रा-विधि, संस्कार-विधि, द्विजत्व-स्थापन तथा शिष्य में रुद्रांश की स्थापना है। समय दीक्षा में दीक्षित समयी राजपुत्र की तरह अन्य सभी दीक्षाओं का अधिकारी है।[29] शिव के लिए उपयुक्त हवि का जो भक्तिपूर्वक भोग करता है वह दीक्षा के बिना भी सम्पूर्ण समयी हो जाता है।[30]

पुत्रक-दीक्षा अधिवास तथा स्नानादि के अनन्तर सामुदायिक याग से प्रारम्भ होता है। पहले तीन त्रिशूलाब्जमण्डल[31] की स्थापना करके मण्डल का गन्धवस्त्र से मार्जन एवं परा, अपरा एवं परापरा देवियों की त्रिशूल-त्रितय में पूजा, ईशान से आग्नेयकोण तक मण्डल के अग्रभाग में गणेश, गुरु, परमाख्या, परमेष्ठी, सिद्ध, वागीश्वरी तथा क्षेत्रपति की पूजा एवं द्वारद्वेश में द्वार-देवताओं की पूजा करने के बाद शूल के मूल और श्वेत कमल में आधारशक्ति से प्रारम्भ कर शिव तक की त्रिशूलत्रय में क्रमशः पूजा करनी चाहिए। वाम, दक्षिण तथा मध्य में स्थित तीन त्रिशूलों में परादि देवीत्रय का भैरव, रतिशेखर एवं नवात्मदेव[32] के सहित पूजन; इस प्रकार यह याग लोकपाल से लेकर अस्त्र (त्रिविध त्रिशूल) तक अद्वय-भाव से पूजन का विधान करता है। इसी के अन्तर्गत भोग-याग भी सम्मिलित हैं। इसमें गन्ध, पुष्प, आसवादि से पूजन विहित है। साथ ही कुम्भ, अस्त्र, कलशी, मण्डल (मण्डलस्थ देवता) तथा अग्नि का अद्वय-भावना से अनुसन्धान भी विहित है। यह अनुसन्धान मण्डल-पूजा के अनन्तर किया जाता है। जो अद्वैत भावना (शिवात्मिकाद्वयव्याप्ति) नहीं कर सकते, उनके लिए 'मन्त्रनाडी-प्रयोग' विहित है। इसमें गुरु 'फ्रेम्' मन्त्र के प्रयोग से प्राणशक्ति के द्वारा शिष्य के आत्मस्थ मण्डल[33] के साथ प्राण का सम्मेलन कराता है।[34] प्राण के उत्तम्भन से ऐक्य का

स्फुरण मन्त्रनाडी-प्रयोग का मुख्य स्वरूप है। अन्त में शिवता के अनुसंधान[35] के साथ सामान्य रूप में यह याग पूर्ण हो जाता है।

उपर्युक्त विधियों में वैदिक यज्ञसंस्था अथवा कर्मकाण्ड के अनेक रूपान्तर अवश्य पाये जा सकते हैं किन्तु सार्ववर्णिकता, गुरु का महत्त्व, देह को मण्डल मानकर प्राणवृत्ति से पूजन-तर्पण आदि तान्त्रिक साधना की अपनी विशेषताएं हैं।

इस साधना का परम विशिष्ट स्वरूप षडध्वा को शुद्ध करने की विधि है। अध्वा का अर्थ है मार्ग। छह प्रकार का मार्ग षडध्वा है जो शिवत्व-प्राप्ति का उपाय है। इसका निरूपण काश्मीर के शैवशास्त्र[36] सिद्धान्त एवं त्रिक[37] में ही नहीं, पाञ्चरात्र आगम[38], शिवपुराण[39], त्रिपुरा-रहस्य[40] आदि में भी उपलब्ध होता है। इसके अनुसार सब-कुछ वाच्य-वाचक या वागर्थरूप है।[41] वाचक या शब्द के तीन भेद वर्ण, पद तथा मन्त्र हैं; अर्थ के कला, तत्त्व तथा भुवन। प्रत्येक त्रिक (तीन का समूह) स्थूल, सूक्ष्म तथा पर[42] के भेद से भी षडध्वा माना जाता है। इस प्रकार वाचक रूप अध्वा और वाच्यरूप अध्वा दोनों में से प्रत्येक षडध्वा है। वाचकात्मा अध्वा में क्रिया का आभासन होता है अतः उसे कालाध्वा और मूर्ति(आकार) का अवभासन करने के कारण वाच्यरूप अध्वा को देशाध्वा कहते हैं।[43] षडध्वाशुद्धि इस प्रकार काल और दिक् की पराक्रान्ति है। क्योंकि शिव अपने को दिक्काल के 6 भेदों में प्रकट करता है अतः उसकी अभिव्यक्ति का वही मार्ग है। यह समग्र अध्वा मनुष्य की देह के भीतर प्राण में प्रतिष्ठित है क्योंकि संवित् प्राणरूप में ही अपने को परिणत करती है और वही शून्य, बुद्धि, पंच प्राण, नाडीचक्र, अनुचक्र तथा बाह्य देह में अवस्थित रहती है। षडध्वा की इसी देह के बाहर-भीतर विश्रान्ति है, अन्यत्र नहीं। दिक्काल के अनन्त भेदों का किंवा समस्त विश्व के सृष्टि-संहार का देह-प्राणादि के माध्यम द्वारा शोधन करने से मनोलय होकर साधक महोदय (शिव) हो जाता है।

काल की पराक्रान्ति कालाध्वा[43] से होती है और देश की देशाध्वा[44] से। काल का सूक्ष्मतम रूप त्रुटि/तुटि या क्षण है और उसका महत्तम रूप महाकल्प है। एक क्षण जाग्रदवस्था में मन्द, स्वप्न में तीव्र, सुषुप्ति में तीव्रतर, तुरीय और तुरीयातीत में अत्यन्त तीव्र हो जाता है, अतः अन्तिम दो अवस्थाओं में क्रमात्मक काल का भान नहीं हो पाता। इसी से उसे 'अकल्य' काल कहते हैं। कालाध्वा में निर्दिष्ट क्रमाक्रमात्मक काल छत्तीस तत्त्वों में परिगणित काल नामक तत्त्व से भिन्न कालशक्ति है, जो काली नामक शक्ति के रूप में संवित् में स्थित है। इसी काल शक्ति से युक्त संवित् भावों का क्रमाक्रम रूप में प्रकाशन करती हुई प्राणवृत्ति हो जाती है। शून्यता की स्थिति में रहना, जिसमें **नेति-नेति** का विमर्श रहता है, योगियों की परम दशा कहलाती है। पहले कालाध्वा का प्रकाशन होता है, बाद में देशाध्वा

का । सामान्य स्पन्दनात्मक प्राण (प्राणना शक्ति या वृत्ति) के पांच भेद—प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान हैं। नासिका के छिद्र से बारह अंगुल तक का बाहरी आकाश बाह्य द्वादशान्त कहलाता है तथा शरीर के भीतर हृदय तक का आकाश आन्तर द्वादशान्त कहलाता है। प्रत्येक जीव का हृदय से प्रारम्भ कर बाह्य द्वादशान्त तक का प्राणचार श्वास-नि.श्वास के रूप में अपने प्रमाण से छत्तीस अंगुल का होता है। छत्तीस अंगुल के इस प्राणापानात्मक स्पन्दन में घटिका, तिथि, मास, वर्ष महाकल्प तक के विभिन्न वर्ष समूह उदित होते हैं। इस प्रकार काल प्राणचार में अवस्थित है। एक व्यक्ति को जो क्षण प्रतीत होता है वही दूसरे को कल्प अथवा निमेष भी प्रतीत हो सकता है। यह काल जाग्रदादि अवस्थाओं में समाधि तथा विश्व की सृष्टि तथा संहार के क्रम में स्थूल-सूक्ष्म रूप ग्रहण कर लेता है। आध्यात्मिक काल के सापेक्ष होने का यह सिद्धान्त शरीर को लेकर ही नहीं, अपितु विभिन्न भुवनों के सन्दर्भ में भी लागू होता है। जिस प्रकार शरीर में काल की अनुभूति प्रमाता को अपने अनुभव के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में होती है उसी प्रकार प्रत्येक भुवन में काल भिन्न-भिन्न है। इस संसार में जो अहो-रात्र, मास या वर्ष है वह दूसरे भुवन में क्षण, प्रहर अथवा अहोरात्र हो सकता है। छत्तीस अंगुल के प्राणचार में सोलह तुटियां होती हैं उसी प्रकार अपानचार में सोलह। तुटि सवा दो अंगुल की और चषक को सवा अंगुल का माना गया है। प्राण तथा अपान के वाह में कुल मिलाकर बत्तीस तुटियां या साठ चषक होते हैं। साठ चषक की एक घटिका होती है। प्राणापान के इस आध्यात्मिक संचार का तथा बाह्यकाल विभाग तथा उसमें होने वाले कालोदय तथा वर्णोदय का विस्तृत वर्णन तन्त्रालोक के छठे व सातवें आह्निक में उपलब्ध होता है। वर्ण का परतम रूप नाद है जिसमें सभी वर्ण अविभक्त अवस्था में रहते हैं। उसका न अस्त होता है और न उदय। उसी को अनाहत नाद, भैरव-सद्भाव, मातृसद्भाव तथा एकाक्षरा परादेवी कहा गया है जिसमें समस्त चराचर लीन हैं।[45]

इस प्रकार साधक द्वारा वर्णों, मन्त्रों तथा पदों के विमर्श[46] से काल के विभिन्न विभागों की प्राण-संचार (प्राणापान वाह) में व्याप्ति कालाध्वा है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, श्रीकण्ठनाथ, अनन्तनाथ, ईश्वर, सदाशिव आदि की काल-कलना भिन्न है। साधक इन सभी को अपनी भावना से व्याप्त कर वर्ण, मन्त्र तथा पद की योजना से अकाल-परमेश्वर में समाविष्ट हो जाता है या भैरवी-भाव प्राप्त कर लेता है।[47] यही 'सत् श्रीअकाल' का तान्त्रिक रहस्य है। काल की यह पराक्रान्ति समस्त सृष्टि-प्रलयों की प्राण में भावना और प्राण की संवित् में विश्रान्ति है जिसे कालोदय अथवा प्राणोदय कहते हैं, और यही है कालाध्वा की शुद्धि या विमर्श। इसी का निरूपण कुण्डलिनी शक्ति के जागरण या मध्य धाम में विश्रान्ति की विधि से भी किया जाता है। प्राणशक्ति प्राण-कुण्डलिनी है। उसके वाम पार्श्व में इडा तथा

दक्षिण में पिंगला नामक नाड़ी है। (अपान प्राण का वक्र गति से 'ह' के लिखने की तरह अनुवर्तन करता है। इसलिए इसे कुण्डलिनी कहा जाता है।) प्राणकुण्डलिनी एक लपेटा इडा पर और दूसरा लपेटा पिंगला पर लगाए रहती है। उसका डेढ़ लपेटा हृदय में स्थित सुषुम्ना (जिसे मध्यनाड़ी, ब्रह्मनाड़ी, शून्यातिशून्य पदवी तथा मध्यधाम कहा जाता है) नाड़ी में रहता है। इस प्रकार प्राणकुण्डलिनी को 'सार्ध-त्रिवलया' कहा गया है। हृदय, कण्ठ, तालु, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र तथा द्वादशान्त में स्थित सूर्यात्मक प्राण का और हृदय-कमल, मुख के संकोच-विकास तथा द्वादशान्त में स्थित चन्द्रात्मक अपान की सुषुम्ना में मध्यदशा की अनुभूति कुण्डली-साधना है।[48]

कला, तत्त्व तथा भुवन देशाध्वा में आते हैं। कलाएं पांच हैं—निवृत्ति, विद्या, प्रतिष्ठा, शान्ति तथा शान्त्यतीता। प्रत्येक कला में अनेक भुवन हैं। कुल भुवन 224 हैं।[49] तत्त्व 36 हैं। इन सभी के अधिष्ठातृ देवता तथा प्रमाता भी भिन्न-भिन्न हैं। समस्त देशाध्वा को शरीर में, शरीर को प्राण में, प्राण को बुद्धि में, बुद्धि को शून्य में और शून्य को चिन्मात्र में भावना द्वारा परिशुद्ध करना, देशाध्वा का शोधन है। इससे साधक को देशकृत संकोच से छुटकारा मिलता है, और कला, तत्त्व, भुवन का परम शिव से तादात्म्य स्थापित होता है।

षडध्वा का विमर्श आणवोपाय के अन्तर्गत किया जाता है। शिवत्व-प्राप्ति के चार उपाय हैं—आणव, शाक्त, शाम्भव तथा अनुपाय। उपाय वह है जिसे ग्रहण करके छोड़ दिया जाये।[50] उपाय को योग भी कहा जाता है। पतंजलि के अनुसार योग चित्तवृत्ति का निरोध है, सांख्यदर्शन के अनुसार प्रकृति का पुरुष से वियोग योग है किन्तु त्रिकदर्शन के अनुसार योग शिव से एकत्व का अनुभव है। इसी को समावेश भी कहा जाता है अर्थात् अपूर्ण का पूर्ण होना, तरंग का समुद्र हो जाना। पातंजलयोग अष्टांग है किन्तु शैवदर्शन योग के 6 अंग ही स्वीकार करता है।[51] अनुपाय[52] में आनन्द का, शांभव में इच्छा का, शाक्त में ज्ञान का तथा आणव उपाय में क्रिया का प्राधान्य रहता है अतः इन उपायों को क्रमशः आनन्दोपाय, इच्छोपाय, ज्ञानोपाय तथा क्रियोपाय कहा जाता है। अन्तिम तीन को क्रमशः अभेदात्मक, भेदाभेदात्मक तथा भेदात्मक उपाय भी इसी कारण माना गया है। ये सभी उपाय शिवत्व में समावेश (मुक्ति, जीवन्मुक्ति) के साधक हैं। सभी उपाय स्वतन्त्र रूप से फलदायी हैं। सामान्य अधिकारी की दृष्टि से आणव, शाक्त तथा शांभव उपायों का सोपानक्रम भी माना जा सकता है। विशिष्ट अधिकारी किसी भी क्रम का अनुसरण कर सकते हैं। वस्तुतः क्रम-सम्प्रदाय में आणव, कुल-सम्प्रदाय में शाक्त तथा त्रिक में शांभव उपाय अधिक मान्य है। शांभव उपाय की पराकाष्ठा अनुपाय है। उपायों का भेद स्थूल दृष्टि से है। तत्त्वतः सभी उपायों का स्वरूप विमर्शात्मक ज्ञान है जो समावेश या मोक्षरूप एक फल देता है।[53] अनुपाय में

'नज्' का प्रयोग, 'अनुदरी' की तरह, निषेधसूचक न होकर उपाय की अत्यल्पता का द्योतक है। इसमें उपायों का गन्ध भी नहीं होता। साधक अपने सत्तर्क से कि 'मैं ही आनन्दघन तत्त्व हूं, मुझमें ही सारा विश्व प्रतिबिम्ब के रूप में स्थित है' तो उसका यह दृढ़ विमर्श मन्त्र, पूजा, ध्यान, चर्या आदि उपायों के बिना उसे अपने पारमेश्वर-स्वभाव में समाविष्ट कर देता है।[54] वह यह भी समझता है कि ध्यानादि उपाय तो दीपक की तरह हैं, वे सूर्य को प्रकाशित नहीं कर सकते।[55] अनुपाय को परम ज्ञान और आनन्दशक्ति में विश्रान्त अनुत्तर (जिससे परे कोई या कुछ नहीं है) कहा गया है।[56] अनुपाय तो स्वयं उपेय है ही, शेष उपाय भी अन्त में उपेय-स्वरूप हो जाते हैं।

शांभव योग (उपाय) में शरीर, मन, बुद्धि तथा प्राण की किसी भी साधना या मन्त्र, मुद्रा, क्रिया और उपासना की कोई आवश्यकता नहीं है।[57] इस योग का साधक मुक्ति की प्रदीप्त इच्छा से अभेद का अनुसंधान करता है, वह अकिंचित्-चिन्तक बन जाता है,[58] उसकी बुद्धि के विकल्प शान्त हो जाते हैं, कोई नया विकल्प उठता नहीं है और मन निरालंब या निराधार हो जाता है।[59] वह निर्विकल्पात्म समावेश का अनुभव करता है और स्वातन्त्र्य शक्ति का आत्यन्तिक दर्शन।[60] हेय और उपादेय से परे शांभव योगी 'स्वयं में स्थित' अथवा आत्मविश्रान्त होता है। अतः यह समावेश या मुक्ति का साक्षात् उपाय है जिसमें यह परामर्श होता है कि "यह विश्व मुझसे उदित हुआ है, मुझमें ही प्रतिबिम्बित है और मेरे से अभिन्न है।"[61] मातृका (अह— अ से लेकर ह तक के क्रम से व्यवस्थित वर्ण) तथा मालिनी (न से लेकर फ तक जिसमें उल्टे-सीधे तरीके से शेष वर्णों का विन्यास होता है) शक्ति के ही अनेक आकार हैं। उनकी साधना भी शांभव योग है।[62]

शाक्त उपाय में बुद्धि का आलम्बन साधक स्वयं होता है। बुद्धि का स्वभाव है विविध कल्पना या विकल्प। संवित् से ऐकात्म्य स्थापित करने वाले विकल्प शुद्ध और अन्य सभी अशुद्ध माने जाते हैं। विकल्प के कारण ही मनुष्य अपने को बद्ध या संसारी मानता है। इसका प्रतिद्वन्द्वी विकल्प से दाह और शुद्ध विकल्प का स्थिरीकरण शाक्त उपाय है। अशुद्ध विकल्प का दलन सत्तर्क या भावना से सम्भव है। सत्तर्क का परिष्कार याग, होम, जप, व्रत तथा योग (ध्यान) से होता है। यह यागादि बाह्य क्रिया नहीं, अपितु बौद्धिक भावना का आन्तरिक निर्माण है। अतः संवित् की अग्नि से सभी भावों को जलाकर तेजोमय बना देना होम है, पर तत्त्व स्व-स्वभाव है, यह परामर्श जप है, बन्ध-मोक्ष म। (बौद्धिक या पौरुष अज्ञान) है, यह प्रतिपत्ति स्नान है, पूजक से निरन्तर अभेदस्थापना पूजा है, परमेश्वर से अपना साम्य मानकर अपनी देह को घट की तरह देखना व्रत, है इन्द्रिय के गोचर प्रत्येक विषय में शिवता लक्षित करना ध्यान है। यह शाक्त उपाय या ज्ञानयोग है। शाक्त उपाय में, कुल तथा तदनुसारी क्रमनय के अनुसार, द्वादश काली (सृष्टिकाली,

रक्तकाली, स्थितिनाशकाली, यमकाली, संहारकाली, मृत्युकाली, रुद्रकाली (भद्रकाली), मार्तण्डकाली, परमार्ककाली, कालाग्निरुद्रकाली, महाकालकाली तथा महाभैरव चण्डोग्रघोरकाली) की अनाख्यचक्र में पूजा का क्रमस्तोत्र तथा पंचशतिक के प्रमाण उद्धृत कर निरूपण किया गया है। (द्र० तन्त्रालोकविवेक, 4.148-172)। तन्त्रराजभट्टारक में इनके अतिरिक्त सुकाली की पूजा का भी उल्लेख है। जयरथ के अनुसार कालीपूजा का रहस्य गोविन्दराज, भानुक और ऐरक को केयूरवती, मदनिका एवं कल्याणिका से तथा उन्हें (केयूरवती आदि को) शिवानन्दनाथ से प्राप्त हुआ था। गोविन्दराज से यह साधना-पद्धति त्रिकदर्शन के प्रवर्तक सोमानन्द को प्राप्त हुई थी, और उनसे अन्य शिष्यों को। इस प्रकार लम्बी गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्त सप्तदश और उससे अधिक कालियों का भी पूजन जयरथ के समय में बहुत प्रचलित था। अभिनवगुप्त को कालीनय का गुरु माना जाता था (**अभिनवगुप्तस्य गुरोर्यस्य कालीनये गुरुता**)। काश्मीर के सभी संप्रदाय काली-पूजा को स्वीकार करते थे और वह शाक्त तथा आणव उपाय दोनों में स्वीकृत थी। शाक्त में अनुत्तर अनाख्यचक्र की साधना का यह भाग थी और आणव उपाय में पुरुषतत्त्व तक की साधना का। बंगाल में प्रचलित कालीपूजा से भी यह तुलनीय है।

आणव उपाय क्रियाप्रधान है। इसमें मन का आलम्बन स्वात्मा नहीं, अपितु बुद्धि, प्राण, देह, घटादि बाह्य विषय आलम्बन होते हैं। अतः प्रथम तीन उपायों की अपेक्षा यह स्थूल है। शाक्त उपाय में अपने से भिन्न किसी की अपेक्षा नहीं होती अतः वह उपायान्तर-निरपेक्ष है किन्तु यह उपायान्तर-सापेक्ष है। अणु का अर्थ है संकुचित प्रमाता। उसमें स्वातन्त्र्य का संयोजन करने वाला उपाय आणव कहलाता है (तन्त्रालोक, 5.5)। अणु का दूसरा अर्थ है— विभिन्न उपाय। संवित् से सन्निकृष्ट (जैसे प्राणोच्चार) तथा विप्रकृष्ट (जैसे देहेन्द्रियादि) उपायों से उत्पन्न होने के नाते भी इसे आणव कहते हैं —अणुषु भेदिषु उपायेषु भवः (तन्त्रालोकविवेक, 5.6)। बुद्धि, प्राण तथा देह के आधार से की जाने वाली इस साधना के प्रमाताओं को बुद्धिप्रमाता, प्राणप्रमाता तथा देहप्रमाता कहते हैं। भेदभूमिका में अवस्थित ये त्रिविध प्रमाता जिन उपायों का सहारा लेते हैं वे उच्चार, करण, ध्यान, वर्ण (ध्वनि) तथा स्थानकल्पना हैं। हृदय (प्रमाता का अंश) तथा पंच प्राणों में प्रमेय की विश्रान्ति द्वारा की जाने वाली प्राणधारणा उच्चार कहलाती है। इस साधना में स्थित योगी जिन आनन्दभूमिकाओं का अनुभव करता है, उन्हें क्रमशः निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द तथा चिदानन्द कहा गया है।[64] पर इन सबसे उत्कृष्ट जगदानन्द है जो असीम अनाहत की विश्वमयी संवेदना है जिसमें परमअमृत भरा हुआ है तथा जिसके लिए ध्यान-धारणा की भी आवश्यकता नहीं होती। इस साधना का उपदेश अभिनवगुप्त को शम्भुनाथ से प्राप्त हुआ था। यह हृदय से प्राण का सहज उच्चार है।[65] उच्चार का दूसरा मार्ग मन्त्र-व्याप्ति का

है। त्रिशिरोभैरवागम में परतत्त्व को मन्त्रभूमि माना गया है। मन्त्र-साधना से उसमें समावेश की साधना मन्त्र-व्याप्ति है। प्राण तथा अपान का समीकरण कर ब्रह्मरन्ध्र के अधोवर्ती चिन्तामणि नामक आधार तथा भ्रूमध्यवर्ती विद्याकमल का सहारा लेकर सकार में विश्राम और इसके बाद ब्रह्मरन्ध्र की ऊर्ध्ववर्तिनी त्रिशूल भूमि पर चढ़कर विसर्ग नामक इच्छा-ज्ञान-क्रिया की साम्यभूमि में प्रवेश 'भैरव-समावेश' (तन्त्रालोक, 5.54-56) है। यही मन्त्रव्याप्ति का सामान्य स्वरूप है। भ्रूबिन्दु से प्रारम्भ कर बिन्दु-नाद-नादान्त-शक्ति-व्यापिनी समना की सीढ़ियों पर चढ़कर ऊर्ध्वकुण्डलिनी भूमि में विश्राम का संकेत अन्यत्र दिया जा चुका है। इसी को संवित् देवी का तर्पण तथा बोधाग्नि में दिव्य प्रमेय का संहाररूप हवन भी कहा जाता है। विसर्ग अनुत्तर की कौलिकी शक्ति है। इसके क्षोभ अथवा शाक्त स्पन्दन से व्यंजनात्मिका मातृका में पृथिवी से पुरुष तक तत्त्व प्रकाशित हैं। इस विसर्गभूमि की साधना लैंगिक भोग से भी की जा सकती है। इसे 'रहस्यविधि' (तन्त्रालोक आह्निक 5 तथा 29) कहा गया है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि तान्त्रिक (कौल) गुह्यसाधना में लौकिक भोगपद्धति द्वारा भैरवसमावेश, भैरवमुद्रानुप्रवेश अथवा महाव्याप्ति की विधियों का प्रचलन था तथा उनमें से कई की विधियां अभिनवगुप्त ने भी बताई हैं। कला और साहित्य ऐन्द्रिय भोग के द्वारा जिस प्रकार वृत्ति का परिष्कार करते हैं, उसी प्रकार विषयों द्वारा आत्मानुभव भी सम्भव है। स्त्री के आलिंगन को उपमान बनाकर (बृहदारण्यक) तथा स्त्री के लोहित को अग्नि और पुरुष रेतस् को आदित्य मानकर (ऐतरेयोपनिषद्) आध्यात्मिक साधना के संकेत उपनिषदों में हैं। लैंगिक प्रतीकवाद श्रुतियों में बहुलता से प्राप्त है। कौलों ने इस साधना का यागादि के रूप में बहुत विकास किया।

स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण देह के माध्यम से विभिन्न कायिक मुद्राओं से की जाने वाली साधना करण[6] है। इसमें कुण्डलिनी योग को भी सम्मिलित किया गया है।

बुद्धि में अनुसंधान की प्रधानता होती है अतः उसे ध्यानमयी कहा गया है। बुद्धि के इस स्वरूप को आलम्बन बनाकर जो धारणा की जाती है, वह ध्यान है। विज्ञानभैरव की विभिन्न धारणाएं शैव ध्यानविधि का निरूपण करती हैं। परमेश्वर का ज्ञातृत्व और कर्तृत्व बुद्धि आदि की उपाधियों में नाना रूप धारण कर लेता है। बुद्धिरूप उपाधि के माध्यम से परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का निश्चय करना ध्यान है। ध्यान के द्वारा साधक सोम, सूर्य तथा अग्नि (प्राण, अपान और उदान अथवा प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता) के सामरस्य का ध्यान करे, क्योंकि यह ध्यान भैरवाग्नि को प्रज्वलित करने में अरणि का काम करता है। सोम-सूर्य-अग्नि की एकात्मता के अनुभव से प्रमेय एवं प्रमाण पूर्ण प्रमातृभाव में विलीन हो जाते हैं। शाक्त दृष्टि से शक्ति सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य की

चार अवस्थाओं में परा, अपरा, परापरा तथा नित्योदिता के रूप में स्थित रहती है जो प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय से सम्बद्ध होकर द्वदश देवी या द्वादश काली कहलाती हैं (द्र० तन्त्रालोक, 4.140-180 तथा 5.21, 26)। अनुत्तरचक्र हृदय से लेकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों तक निरन्तर चलता रहता है। अभिप्राय यह है कि प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमाण में सृष्टि, स्थिति एवं संहार निरन्तर होते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति प्रतिक्षण इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से होती है। इस सन्निकर्ष के साक्षात्कार में तादात्म्य तथा सर्वात्मकता का अनुभव अनुत्तर चक्र की साधना है। इस द्वादश-देव्यात्मक चक्र के ध्यान के अतिरिक्त त्रिशूल से प्रारंभ कर चतुष्पंचारक, पंचाशदर, चतुःषष्टिशतार, सहस्रार, असंख्यारसहस्र चक्रों का ध्यान भी इस साधना में उपदिष्ट है (द्र० तन्त्रसार, पृ० 36-37)। शिव की प्रत्येक शक्ति एक अर की प्रतीक है। उपर्यक्त विभिन्न अनेकार चक्र असंख्यार शिव की शक्तियां हैं। इन चक्रों के ध्यान का अर्थ शक्तिमान् की विभिन्न शक्तियों का साक्षात्कार है।

अनाहत नाद में सभी वर्ण अविभक्त अवस्था में रहते हैं। इसी नाद के अभ्यास, स्मरण तथा मन्त्ररूप में जप को वर्ण या ध्वनि का योग कहते हैं। वर्णतत्त्व मुख्यतः दो प्रकार का है—सृष्टि-बीज तथा संहार-बीज। अनाहत नाद 'क' से लेकर 'म' तक स्वररहित वर्णों तथा सस्वर वर्णों (ध्वनियों) में अपने को अभिव्यक्त करता है। सृष्टिबीज कन्द आदि विभिन्न आधारों को पार कर मध्यधाम में अनुत्तर की अनुभूति करता है। संहार बीज में 'ख' को हृदयस्थ, 'फकार' को औष्ठ्य, रेफ को मूर्धन्य, यकार को कण्ठतालव्य तथा बिन्दु को द्वादशान्त में स्थित माना गया है। दीक्षोत्तर ग्रन्थ में एकार अथवा ओंकार तथा बिन्दु और ऊर्ध्वचन्द्र से युक्त सकार, मकार, रेफ तथा यकार का सम्मिलित रूप में हृदय में स्मरण करने का विधान है। इस संहार बीज की साधना से शिवतादात्म्य सात दिनों में उसी प्रकार हो जाता है जैसे कि तांबा रसायन-प्रक्रिया से सोना बन जाता है (द्र० तन्त्रालोक, 5.131-151)।

स्थान-कल्पना को बाह्य उपाय कहा गया है। जो साधक ध्यानादि की भावना नहीं कर सकता है उसके लिए इस बाह्य विधि का निरूपण किया गया है। स्थान का अभिप्राय प्राण, देह तथा बाह्य वस्तु से है। प्राण व देह को मिलाकर की जाने वाली दो प्रकार की साधनाएं (द्र० तन्त्रालोक, षष्ठ आह्निक) स्थान-कल्पना के प्रथम दो भेद हैं। षडध्व-साधना के प्रसंग में इसका निरूपण किया जा चुका है। स्थान के तीसरे भेद बाह्य (वस्तुओं) में मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट (लेपादि से निर्मित आकृति, प्रतिमा, तथा गुरु आदि की मूर्ति (तन्त्रालोक 6.3) का उल्लेख है। मण्डल आदि बाह्य स्थान को आधार बनाकर की जाने वाली साधना स्थानकल्पना का तीसरा भेद है।

ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त ने इस स्थानकल्पना के अन्तर्गत उन सभी

विधियों को सम्मिलित कर लिया है जो किसी भी बाह्य पूजा या कर्मकाण्ड का अंग थी। तन्त्रालोक न केवल विभिन्न आगमों तथा तान्त्रिक ग्रंथों में वर्णित साधनाओं का विश्वकोष है अपितु गुरु-परम्परा से जो भी साधना-विधि, पूजा-पद्धति, कर्म-काण्ड या आध्यात्मिक अनुभव अभिनवगुप्त को प्राप्त हुए थे, या जिनकी उन्होंने स्वयं साधना की थी, उन सबका प्रामाणिक संग्रह है। भारतीय साधना का इतिहास यदि कभी पूरी तौर से लिखा जा सका तो तन्त्रालोक निश्चित ही उसका मार्ग-दर्शक दीपस्तम्भ होगा।

साधना की भावना, गुरु की प्राप्ति, दीक्षा, साधनाविशेष में प्रवेश तथा सिद्धि शिव की अनुग्रहस्वरूपा शक्ति का प्रताप है। अधिकारी की रुचि, व्युत्पत्ति, फलाकांक्षा आदि का भी वही हेतु है। इसे शक्तिपात कहते हैं। आध्यात्मिक साधना इसी से प्रवर्तित होती है। यही भक्ति[66] और आन्तर विवेक[67] जगाती है और भुक्ति-मुक्ति की सिद्धि के लिए गुरु के पास ले जाती है।[68] इस शक्तिपात, शिव के अनुग्रह या करुणा-भाव का कोई निमित्त या हेतु नहीं है, यह अहेतुक और निरपेक्ष है क्योंकि यही शिव के स्वातन्त्र्य को व्यक्त करता है।[69] यदि वह किसी की इच्छा के या कारणता के अधीन हो तो उसकी स्वतन्त्रता कैसे रहेगी? अतः जो लोग राग के क्षीण होने, कर्म के साम्य, पुण्यातिशय, कार्म मल के पाक, सुहृद्योग, भक्ति, सेवभावना, अभ्यास, संस्कार के उदय तथा परिपाक, मिथ्याज्ञान के क्षय, कर्मसंन्यास, काम्य (कर्म) से विच्युति तथा चित्त-साम्य आदि के कारण शक्तिपात मानते हैं, वे प्रभु की करुणा की अहेतुकता तथा सहजता को नहीं समझते हैं। शक्तिपात को सहेतुक मानने में अनेक अनवस्था, अतिव्याप्ति, असम्भव, अन्योन्याश्रय, चक्रक आदि तार्किक दोष भी हैं। अतः परम हेतु को अहेतु मानना ही अधिक संगत है।[70] दीक्षा से सभी पाशों का शोधन हो जाता है किन्तु बुद्धि-दोष का शोधन नहीं होता, अतः पुनः विकल्पों के उठने की सम्भावना रह जाती है, शक्तिपात बुद्धि-दोष को भी विनष्ट कर देता है। प्रमाता स्वयं शिवरूप है अतः उसमें तमोरूपिणी निरोधिका शक्ति तथा प्रकाशरूपिणी शक्ति दोनों एक साथ रहती हैं, अतः स्वात्मा की इच्छा शक्ति से ज्ञान-क्रिया शक्तियों का जागरण शक्तिपात है, ऐसा भी कहा जा सकता है। शक्ति का शिव में समवाय है अतः शक्ति उससे अलग होकर कहीं नहीं गिरती अतः स्वात्मशिव का अपनी शक्ति की ओर उन्मुख हो जाना शक्तिपात का मेरी दृष्टि में तात्पर्यार्थ है। शक्तिपात का कोई क्रम नियत नहीं होता और यह अव्यय है, अतः व्याकरण के निपात की तरह शक्तिपात में आया पात शब्द निपात के समान है। यहां गिरने या फेंकने या अलग होने का अर्थ नहीं है। इसीलिए शैवदर्शन में मोक्ष को स्वशक्तियों की अभिव्यक्ति माना है —**स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः** (परमार्थसार)। यह मोक्ष के लिए ही नहीं, भोग के लिए भी चरितार्थ लक्षण है। परमार्थ और व्यवहार में कोई

अन्तर नहीं है अत: दोनों स्थितियों में अपनी स्वात्मभूत शक्ति का जागरण आवश्यक है—यही स्वातन्त्र्य और क्रियाशक्ति का पर्याय है।

सभी पर अनुग्रह करना परमात्मा का स्वभाव है उसका प्रभाव अचिन्त्य है अत: वह तत्त्वविवेक, दीक्षा, योग, श्राद्धादिरूप चर्या में से किसी भी उपाय से जीव का उद्धार कर देता है। और ये सब भी बाह्य लक्षण हैं। मुक्ति का मुख्य कारण भक्ति है, यह **'शक्तिपातलक्षणा अनुध्या'** (जयरथ) है। अर्थात् यह ऐसा अनुसंधान है जिससे भगवान् की अहैतुकी कृपा या शक्तिपात का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाता है। जैसे ज्यादा या कम विष खा लेना या व्याधि आदि मृत्यु का वास्तविक कारण नहीं है, अपितु भोग का क्षय मुख्य है, उसी प्रकार मुक्ति का हेतु दीक्षा आदि उपाय नहीं है अपितु शिव का शक्तिपात है, शिव की शक्ति की अभिव्यक्ति है। और यह मुख्यत: भक्ति है।[71] भक्ति का विषय परमेश्वर-स्वरूप स्वात्मा है, कोई अन्य देवता नहीं (**परमेश्वरस्वरूपस्वात्म-विषया** न त्वन्यदेवताविषया)। विज्ञानभैरव (श्लोक 118) के अनुसार भक्ति के उद्रेक से शान्तचित्त भक्त की जो मति होती है, वही शांकरी शक्ति है। ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी में परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की पात्रता को दास्य (भक्ति) कहा गया है। भक्ति समग्र भावों का परमेश्वर से एकीभाव है न कि चरणवन्दना।[72] "अणिमादि गुण, ऐश्वर्य तथा भवक्षय भक्तिरूपी कल्पवृक्ष के किसलय हैं। जो भक्ति के अमृत रस की मदिरा से उन्मत्त हैं वे अद्वय को मानने वाले तुम्हें अपना द्वितीय मानते हैं। भक्त की दृष्टि से प्रत्येक तर्क आपके अद्वैत का साधक है और निकृष्ट (भक्तिशून्य) व्यक्ति के पास आपकी असिद्धि के लिए कई आवरण हैं। भक्ति को छोड़कर शिवमार्ग तक ले जाने में योग, तप, पूजा कुछ भी साधक नहीं हैं। मेरे लिए तुम्हारा साथ, समागम ही, सुख है और विरह ही दुःख। जीभ पर शिव नाम रहे तो सारे विषयों का स्वाद मिल जाता है। निमीलित नयनों से भक्तिरूपी चमत्कार की चर्वणा से 'नमो मह्यं शिवाय' की पूजा करते-करते तिनका भी हो जाऊं तो ठीक है। संसार का सार वियोग है, उससे विमुक्त होकर अपने प्रिय प्रभु से जुड़ा रहूं। तुम भक्ति से प्रसन्न होते हो और भक्ति तुम्हारे प्रसन्न होने पर मिलती है, प्रभु, बताओ यह अन्योन्याश्रय ठीक है या नहीं ? भक्ति की खुजली पैदा हो जाने पर आपका साथ खुजलाने का पत्थर लगता है।" तुम्हीं सबकी आत्मा हो, हर व्यक्ति को स्वयं पर राग होता है इसलिए भक्ति सहज भाव है। उत्पल की शिवस्तोत्रावलि के कुछ पद्यों के रूखे गद्य में लिखे ये भाव शिवाद्वयात्मिका तथा आत्मप्रत्यभिज्ञामयी भक्ति को स्पष्ट करते हैं।

14वीं शती ई० की प्रसिद्ध योगीश्वरी लल्लेश्वरी, लल्ल या लल्लदेद आज भी काश्मीर के हिन्दू-मुसलमानों की आस्था का केन्द्र है। उनकी वाणी 'लल्लवख' (लल्लवाक्यानि) का संस्कृत में अनुवाद 16वीं शती में ही भास्करकण्ठ ने किया

था। वे कहती हैं—

सहुज़स शम त दम नो गछे
यंछि नो प्रावख मुक्ती द्वार
सलिलस लवण जन मीलिथ गछे
तोति छुव अर्लन सहजु व्यचार

(शम-दम से सहज गम्य नहीं है,
चाहने भर से मुक्ति का द्वार नहीं खुल जाता,
पानी में नमक की तरह उसमें घुल जाने के बाद भी तत्त्व का,
सहज तत्त्व का, विचार दुर्लभ बना रहा।)

गगनचुय बूतल चुय
चय चुख घन पवन तु राथ
अर्ग चन्दुन पोश पोज चुय
चय छख सोरुय तु लागिज़िय क्याह

(तुम गगन हो, तुम भूतल हो,
तुम दिन, पवन और रात हो,
अगरु, चन्दन, पुष्प और जल हो तुम,
तुम सब-कुछ हो तो क्या अर्पण करूं ?)

अजपा गायत्री हंसु-हंसु जपिथ
अहम् त्राविथ सुय अदु रठ
यम्य त्रोव अहं सुय रुदु पानय
बो ह नु आसुन छय व्वपदीश

(अजपा गायत्री मन्त्र 'हंसः' हर सांस में जपो !
अहं छोड़ दो और उसमें खो जाओ।
जिसने अहं को छोड़ा वह उसे पा गया।
उससे अलग होने को मिटा दो, यही सीख है)

अस प्वन्दे ज़्वसे ज़ामे
न्यथ्य स्नानकरि तीर्थन
वहर्य वाहरस नो नुय आसे
निशि छुय तु प्रजानतन

(वह हंसता है, छींकता है जंभाई लेता है
तीर्थों में नित्य स्नान करता है
वह सारे साल नंगा रहता है
वह तुम्हारे पास है, उसे पहचानो ?)

लल बो ह लूसुस छांडान तु गारान
हाल म्यं को रमस रसनिर्श तिय
वुछुन ह्यो तुमस तांर्य डींठिमस बरन
म्यंति कल गनेयम ज़ि ज़ोगमस ततिय

(लल खोजती और बाट जोहती थक गई
मैंने उसका पीछा किया धीरे-धीरे
मैंने कोशिश की कि उसकी एक झलक मिल जाये
पर देखा कि दरवाज़े बन्द हैं
मेरी चाह और गहरी हो गई और उसकी बाट में
मैं अपने भीतर बैठ गई।)

योगीश्वरी के इन वचनों[74] में शैवदर्शन के योग और भक्ति का स्वरूप एक स्वर में अभिव्यक्त हुआ है।

भारतीय चिन्तन एवं साधना मुख्यतः आत्मकेन्द्रित है, उसमें स्व है और वह स्वतन्त्र है, परम है; पर है भी तो वह मुख्य नहीं है और स्वतन्त्र भी नहीं है। जो पर है वह या तो मात्र व्यवहार है या फिर उपयोगी भर है, परमार्थ या तात्त्विक नहीं है। जहां स्व से भिन्न पर को स्वीकार किया गया है वहां भी स्व (आत्मा, विज्ञान, शून्य, जीव) की प्रधानता है। किन्तु पर स्व का अंश, शेष, विशेषण या उपाधि है। शैवदर्शन में पर का स्व से तादात्म्य स्थापित किया गया है। भक्ति भी स्व और पर की पृथक्ता और स्वतन्त्रता पर नहीं, अपितु मिलने-जुड़ने—एक हो जाने की आकांक्षा से प्रेरित है। इस जुड़ने या संबंध स्थापित करने के अनेक रूप भक्तिधाराओं में प्राप्त होते हैं। जैसेकि सख्य, वात्सल्य, माधुर्य, दास्य आदि। काश्मीर शैवदर्शन में इस संबंध को कामिनी द्वारा अपने पास में स्थित प्रियतम को दूती की सहायता से पहचानना (प्रत्यभिज्ञा) कहा गया है। भक्त सोचता है—मैं भगवान् को खोज रहा हूं; सच यह है कि भगवान् स्वयं भक्त को खोज रहा है। यह शिव द्वारा शिव की उपासना है —शिवस्यैव शिवोपास्तिः।

स्नान, शुद्धि, अर्चना, होम, ध्यान, जप, मन्त्र, मुद्रा, न्यास, शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्याभक्ष्य, द्वैत-अद्वैत, लिंगपूजादि, व्रत, तीर्थ आदि मायीय विकल्प हैं अतः इन्हें न

त्याज्य कहा जा सकता है, न उपादेय। तत्त्व में चित्त का स्थिरीकरण जिस व्यक्ति का जिस किसी उपाय से हो जाय, वह उस उपाय या साधना को अपना सकता है (द्र० मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, 18.74-81)। और फिर यह सब तो भेदात्मक मायीय विकल्प हैं। ज्ञानाग्नि द्वारा विश्वरूपी ईंधन को जलाकर अपरिमित प्रमातृ-भाव की भस्म से परिमित प्रमाता का मज्जन वास्तविक स्नान है। भेद-ज्ञानरूप अशुद्धि का विनाश कर परम ज्ञान का उदय शुद्धि है; इन्द्रियवृत्ति में रहते हुए मन को आह्लादित करने वाली वस्तु को ब्रह्मरूप सद्धाम से जोड़ना पूजा का उपकरण है; चिदात्मा के साथ रूप, रस आदि विभिन्न भावसमूहों का एकीकरण अथवा संविद् से विषयों का ऐक्य स्थापित करना पूजा है; स्वात्मा में विश्रान्त योगी का श्वास-प्रश्वास, सोचना-विचारना आदि प्रत्येक आचरण जप है; अपनी स्वतंत्र इच्छा से आन्तर एवं बाह्य वस्तु का आभासन ध्यान है; भैरवीय परम आसव से घूर्णित योगी के शरीर की जो स्थिति है वही मुद्रा है; इन्द्रियसमूह के रूप में फैली हुई प्रचण्ड ज्वालाओं वाली अग्नि का हृदय में निरन्तर जलना ही होम है। इस प्रकार तन्त्रा-लोक (4.114-206) तथा अन्य शैवग्रन्थों में समग्र बाह्य क्रियाओं की अपेक्षा चैतन्य से ऐक्य स्थापित करने वाले विमर्श को प्रधान माना गया है। इसी आधार पर योग में भी सत्तर्क (स्वानुभव, सम्यक् ज्ञान) का अधिक महत्त्व है।

तान्त्रिक साधना-दर्शन ने जिन मूल्यों या आदर्शों की स्थापना की है उनमें सार्ववर्णिकता, पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकात्मता, शक्ति की महत्ता, साधना में स्त्री का और नीच जाति के व्यक्तियों का द्विज से विशेष स्थान, ज्ञान की विभिन्न धाराओं का अधिकारिभेद से सम्मान, ध्यानयोग का महत्त्व, समता की दृष्टि[75], संसार की शिवता तथा सत्यता, करुणा तथा अनुग्रह (शक्तिपात), सत्तर्क और ज्ञान एवं क्रिया का सामरस्य प्रमुख हैं।

दर्शन को शुद्ध तार्किक या बौद्धिक विकास के रूप में देखना आजकल की प्रवृत्ति है। कोई भी दृष्टि सर्वथा संस्कृतिनिरपेक्ष हो सकती है याकि, मानव शुद्ध तार्किक है, भावनात्मक नहीं, यह मान पाना कठिन है। मानव में तार्किकता और भावना दोनों का योग है फलतः उसकी दृष्टि में चिंतन और साधना दोनों का समवाय होगा। यह भावना परम की आस्था का (चाहे वह ईश्वर हो या वैज्ञानिक मानवतावाद) मूल है। ईश्वर को न मानकर या उससे निरपेक्ष रहकर सांख्य, बौद्ध, जैन आदि ने अपनी आस्था को व्यक्त किया था। शैवों ने स्वात्मा को केन्द्र बनाकर संसार और अपनी पहचान स्थापित की, पर उन्होंने यह मान्यता अवश्य प्रतिष्ठित की कि चिन्तन के साथ क्रिया का सहभाव आवश्यक है। वह अपने युग के सन्दर्भ में अनेक सांप्रदायिक साधनाओं के विस्तार में अभिव्यक्त हुई थी। लोकधर्मी साधक के प्रकरण में यह कहा गया था कि साधना का उद्देश्य शिवत्वलाभ ही नहीं (वह तो परम उपलब्धि है ही), अपितु करुणा और अनुग्रह के भाव से प्रेरित होकर लोक-

कल्याण भी उसका उद्देश्य है। इसी प्रकार जो सर्वथा निर्मल भैरव हो गया है उसका एकमात्र कृत्य लोककर्त्तव्य है —

कृत्यं तस्य स्फुटतरमिदं लोकर्तव्यमात्रम्।[76]

यही भाव गीता के लोकसंग्रह, सर्वभूतरति व समदर्शिता में, बुद्ध द्वारा करुणा की देशना में, जैन धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त में, वेदान्त के सर्वमुक्तिवाद में, योग-दर्शन के मैत्री-मुदिता-करुणा-उपेक्षा आदि के आदर्शों में अभिव्यक्त हुआ है। आज की साधना का स्वरूप भिन्न हो सकता है किन्तु दर्शन की सार्थकता के लिए लोक के प्रति करुणा भाव से साधना आवश्यक है, उपभोगप्रधान भौतिकता उसका विकल्प नहीं है। शैवी साधना के अनुयायी प्रतिदिन यह भावना करते हैं—

शिवो दाता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्।
शिवो यजति यज्ञश्च यः शिवः सोऽहमेव हि ॥

(शिव दाता, भोक्ता और संपूर्ण विश्व है, शिव यज्ञ करने वाला तथा यज्ञ है, जो शिव है, वही मैं हूं।)

अभिनवगुप्त की विवृतिविमर्शिनी की प्राचीन पाण्डुलिपि में उल्लिखित एक पद्य शैव साधक की विश्वदृष्टि का उन्मीलन करता है—

शुभमस्तु सर्वजगतां परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु शान्ति सर्वत्र सुखीभवन्तु लोकाः ॥

(सारे संसारों का कल्याण हो, प्राणिगण दूसरों के हित में लगे रहें, दोष शान्त हो जाएं और सभी जगह लोग सुखी रहें !)

सन्दर्भ

1. किरणायां तथोक्तं च गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।—तन्त्रालोक, 13,162
2. यस्माद्दीक्षा मन्त्रशास्त्रं तत्त्वज्ञानं स वै गुरुः।—वही, 15.591
   वह शिव से अभिन्न है—
   (क) शिवाभिन्नोऽपि हि गुरुरनुग्रहमयीं विभोः।
   मुख्यां शक्तिमुपासीनोऽनुगृह्णीयात्स सर्वथा ॥—वही, 23.67
   (ख) यस्मान्महेश्वरः साक्षात्कृत्वा मानुषविग्रहम्।
   कृपया गुरुरूपेण मग्नाः प्रोद्धरतिः प्रजाः ॥—वही, 4.71 पर विवेक
   (ग) यो गुरुः स शिवः प्रोक्तो यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
   उभयोरन्तरं नास्ति गुरोरपि शिवस्य च ॥—वही, 1.106 पर विवेक

इसी आधार पर शिवसूत्र में गुरु को उपाय कहा गया है—गुरुरुपायः, 2.6

3. दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना ।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।।—तन्त्रालोक, 1.43 पर विवेक
इसीको प्रकारान्तर से शिवपुराण (वायवीयसंहिता, भाग 11, अ० 2) में इस प्रकार कहा गया है—

दीयते येन विज्ञानं क्षीयते पाशबन्धनम् ।
तस्मात् संस्कार एवायं दीक्षेत्यपि च कथ्यते ।।

रुद्रयामल तथा मेरुतन्त्र (पुरश्चर्यार्णव, बनारस-संस्करण, पृ० 40) में यही लक्षण उपलब्ध होता है। इसी से मिलते-जुलते लक्षण देवीभागवत (12.7.5) में, शिवसूत्रविमर्शिनी (3.28), सिद्धान्तशिखामणि (6.11-12) आदि में भी प्राप्त होते हैं।

4. दीक्षादेः भेदेऽपि तत्फलभूतस्य मलतच्छक्त्योर्विध्वसादेः न कश्चिद्भेदः···।
—तन्त्रालोक, 1.66 पर विवेक

5. तन्त्रालोक, 13.302 पर विवेक।

6. द्र० कर्मकाण्डक्रमावली, 607-619

7. ज्ञानयोग्यास्तथा केचिच्चर्यायोग्यास्तथापरे ।
दीक्षायोग्या योगयोग्या इति श्रीकैरणे विधौ ।।—तन्त्रालोक, 15

8. समयी का अर्थ है : समय का पालन करने वाला। 'समय' शास्त्रीय मर्यादा या आचार हैं। इन आचारों में संप्रदायविशेष की अपेक्षाएं, गुरु, मन्त्र, देव का पूजन आदि तो सम्मिलित हैं ही, अनेक नैतिक आचार भी समय के अन्तर्गत परिगणित हैं। जैसेकि असत्प्रलाप, परुष, अनृत, हिंसा, व्यभिचार (परदाराभिमर्श), गर्व, दम्भ, राग, द्वेष, असूया, संकोच, ईर्ष्या, अभिभानिता का परित्याग (तन्त्रालोक, 15, 524-25, 529), दीन, दुःखी (क्लिष्ट), प्राणिगण, पक्षी आदि का तर्पण (वही, 527), विरूप, वृद्ध, शिल्पोपजीविनी स्त्रियों तथा वेश्याओं की प्रयत्नपूर्वक पूजा (वही, 527)—विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। समय को समय इसलिए भी कहा जाता है कि वे अवश्य पालनीय होते हैं, परतत्त्व से संगम कराते हैं तथा ज्ञानप्राप्ति के उपाय होते हैं—

अवश्यपालनीयत्वात्परतत्त्वेन संगमात् ।
ज्ञानप्राप्त्यभ्युपायत्वात्समयास्ते प्रकीर्तिताः ।।—तन्त्रालोक, 15.609

समय का पालन विघ्नों का विनाश करता है और उल्लंघन राक्षसत्व प्रदान करता है—

समयोल्लंघनाद्देवि क्रव्यादत्वं शतं समाः ।—वही, 16.204

कहीं-कहीं पुत्रक और साधक ये दो भेद ही बताए गए हैं और पुत्रक की दीक्षा के दो भेद किए गए हैं—सबीज और निर्बीज। बालक, मूर्ख, वृद्ध, स्त्री, भोगी

तथा रोगी को दी जाने वाली दीक्षा समयादि के बीज से रहित होने के कारण निर्बीज कहलाती है, और द्वन्द्व-सहिष्णु विद्वानों को दी जाने वाली दीक्षा समय अर्थात् साम्प्रदायिक चर्या (समयाचार) से युक्त होने के कारण सबीज दीक्षा कहलाती है। यह पुत्रक और आचार्य को दी जाती है।

—स्वच्छन्दतन्त्र, 490

9. समयी, पुत्रक, साधक तथा आचार्य—इन चार प्रकार की कोटियों में आचार्य को सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि वह भोग व मोक्षसाधना एक साथ करता है।

10. (क) साधको द्विविधः शैवधर्मा लोकोज्झितस्थितिः।
लोकधर्मी फलाकांक्षी शुभस्थश्चाशुभोज्झितः॥

—तन्त्रालोक, 15, 23-24

(ख) द्र० स्वच्छन्दतन्त्र, 4.86

11. प्राक्तनागामिकस्यापि अधर्मक्षयकारिणी।—वही, 15 पर विवेक

12. अक्रमात्कश्चित्पुत्रक एव, नत्वादौ समय्यपि, कश्चिदाचार्य एव, नत्वादौ समयी पुत्रको वेति व्यस्तत्वम्।—वही, 13,300 पर विवेक।

13. दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम्।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत्॥—वही, 9 पर विवेक

14. परोक्षमृतदीक्षादौ गुरुरेवानुसन्धिमान्।
क्रियाज्ञानमहिम्ना तं शिष्यं धाम्नीप्सिते नयेत्॥—वही, 16,172

15. अथ दीक्षां ब्रुवे मूढजनाश्वासप्रदायिनीम्।—तन्त्रालोक, 20.1
इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न प्रकार की दीक्षाओं का कालक्रम से विकास होता रहा है और वह युगविशेष की आवश्यकताओं को पूरा करता रहा है। अभिनवगुप्त के गुरु शम्भुनाथ के समय अवश्य ही शैवधर्म पर विश्वास न करने वाले व्यक्ति रहे होंगे, जिन्हें श्रीशम्भुनाथ ने अपनी दिव्य साधनाओं द्वारा शैवसाधना में दीक्षित किया होगा।

16. द्र० तन्त्रालोक, 13.354, 22.7

17. अतश्चाप्युत्तमं शैवं योऽन्यत्र पतितः स हि।
इहानुग्राह्य ऊर्ध्वोर्ध्वं नेतस्तु पतितः क्वचित्॥
अतएव हि सर्वज्ञैर्ब्रह्मविष्णवादिभिर्निजे।
न शासने समाम्नातं लिंगोद्धारादि किंचन॥

—वही, 13.358-9

18. वही, 13, 353-357

19. वही, 22, 16-19

20. वही, 22.22-27

21. शिवोऽयं शिव एवास्मीत्येवमाचार्यशिष्ययोः ।
हेतुतद्वत्तया दार्ढ्याभिमानो मोचको ह्यणोः ।।—वही, 15,42

22. नाध्यात्मेन विना बाह्यं नाध्यात्मं बाह्यवर्जितम् ।
सिद्ध्येज्ज्ञानक्रियाभ्यां तद्द्वितीयं संप्रकाशते ।।—वही, 15.43

23. स्नान के आठ और न्यास के छः भेद बताए गए हैं। बाह्य-याग, द्वारपूजा, देह-प्राणादि का शोधन, छत्तीस तत्त्वात्मक स्वदेह की अर्चना, विग्रहपूजा, मन्त्र-चक्रपूजन, देवताओं का तर्पण, बाह्य याग के अन्तर्गत कुम्भ-पूजन, कुण्ड, स्रुवा एवं स्रुक् का संस्कार, चरु की सिद्धि, यागान्त में पूर्णाहुति आदि।
—द्र० तन्त्रालोक, 15वां आह्निक

24. द्र० तन्त्रालोक, 15.472-74

25. वही, 15.474-77

26. देव, अग्नि, गुरु और उनकी पूजा, उपकरण, हृद्यस्त्री, मद्यपान, आम-मांस (कच्चे मांस) का भक्षण, रक्तपान, शिर का कटना, रुधिर, विष्टा तथा मूत्र से लेपना, पर्वत, अश्व, गज आदि अच्छी सवारियों पर चढ़ना, अथवा जो भी प्रीतिकर हो उसे स्वप्न में देखना शुभ माना गया है। इन स्वप्नों को बताने से तुष्टि बढ़ती है और अच्छा लगता है। इनसे भिन्न अशुभ स्वप्न हैं, जैसे कि पके मांस का खाना, तेल लगाना (अभ्यंग), गड्ढे में गिरना। दुःस्वप्न दूर करने के लिए अस्त्र मन्त्र 'फट्' से आठ सौ बार होम करने का विधान है। गुरु को यही कहना चाहिए कि दुःस्वप्न वास्तविक नहीं है क्योंकि कुछ भी शुभ और अशुभ का विभाग नहीं किया जा सकता। दे० वही, 15.485-89

27. (क) शिष्य शिवहस्तविधि से ही समयी बनता है और ईश्वरतत्त्व के साथ उसका सायुज्य स्थापित होता है और उसे श्रवण, अध्ययन, होम, पूजन, चर्या, ध्यान आदि की योग्यता मिल जाती है।
—द्र० स्वच्छन्दतन्त्र, 4.79

(ख) दत्तेन शिवहस्तेन समयी स विधीयते ।
सायुज्यमीश्वरे तत्त्वे जीवतोऽधीतियोग्यता ।। —तन्त्रालोक, 15.459

28. संस्कारों में ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और पारिव्राज्य से सम्बन्धित संस्कारों जैसेकि ब्रह्मचर्य के गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म आदि चौदह संस्कार, गार्हस्थ्य के पाकयज्ञ, श्राद्ध आदि चौबीस संस्कार, वानप्रस्थ और परिव्राजकता को लेकर चालीस संस्कार माने गये हैं; इनमें 8 आत्मगुण: दया, क्षमा, अनसूया, शुद्धि, सत्कृति, मंगल, अकार्पण्य, अस्पृहा मिलाकर अड़तालीस संस्कार होते हैं। —तन्त्रालोक, 15.498-505

संस्कार दोषों का अपनयन करता है और गुणों का आधान करता है। अतः एक ओर इन संस्कारों से आहार, बीज (जाति), देश और भाव की शुद्धि

होती है, और दूसरी ओर द्विजत्व का आपादन होता है। आहार का दोष श्रुति तथा स्मृति में निर्धारित प्रक्रिया का निर्वाह न करने से होता है। रक्त की शुद्धता एक मिथक है। किसी की उत्पत्ति का बीज कौन होगा यह निर्धारित करना कठिन है, इसलिए बीज-दोष की शुद्धि आवश्यक है। भाव-दोष असत्य, अनार्जव आदि दोषों से उत्पन्न होता है, और देशदोष विधर्मी संस्कृति के सम्पर्क से। मेरी दृष्टि में जयरथ के कथन का आज की भाषा मे यही मन्तव्य है।—द्र० वही, 497 पर विवेक।

29. अड़तालीस संस्कारों से आहार, बीज, देश और भाव की शुद्धि के बाद द्विजत्व का आपादन होता है, या यों कहें, पुराना चोला छोड़कर साधना के अनुकूल नया चोला मिलता है। द्विजत्वापादन के सन्दर्भ में यह बारम्बार स्पष्ट किया गया है कि संवित् के स्वभाव में किसी भी लौकिक जाति की कल्पना नहीं करनी चाहिए : 'संवित्स्वभावे नो जातिप्रभृतिः कापि कल्पना', वही, 15.599। जाति आदि वस्तुतः मूढ आग्रह है (15.597)। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इनमें से जो कोई भी आचार्य बन जाता है वह शिव हो जाता है अतः जाति का कोई महत्त्व नहीं है (स्वच्छन्दतन्त्र, 4.414)। द्विज वही है जिसकी आत्मा शान्त हो, इसीलिए शीलसम्पन्न गुणी शूद्र को ही ब्राह्मण माना गया है : 'शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।' धीवर स्त्री से उत्पन्न व्यक्ति भी ऋषि माने जाते हैं। —द्र० तन्त्रालोक, 15.511-16

30. एतैर्वाक्यैरिदं चोक्तं समयी राजपुत्रवत्।
सर्वत्रैवाधिकारी स्यात्पुत्रकादिपदत्रये ॥ — वही, 15.469

31. तन्त्रालोक, 16.31

32 द्र० परात्रींशिकाविवरण, पृ० 237, व्या० जयदेवसिंह, दिल्ली।

33. नवात्मदेव मृत्युंजय भट्टारक अथवा उनके नवात्म मन्त्र के रूप में परतत्त्व (महार्थ) का वाचक है। जयरथ ने ब्राह्मी आदि आठ मातृकाओं के मध्यवर्ती भैरव को नवात्मदेव का वाचक माना है। भट्टारक शब्द अतिशय आदर व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। नवात्म मन्त्र ह् से लेकर उ पर्यन्त है।

34. मण्डल शिवात्मक है, मैं ही शिव हूं, सारे कर्मों का साक्षी, होम की अधिकरण वह्नि में मैं ही अवस्थित हूं, मेरे आत्मभाव मे प्रदीप्त मन्त्र पाशों का क्षेपण करने में समर्थ हैं।

मण्डलस्थोऽहमेवायं साक्षी चाखिलकर्मणाम्।
शुद्धा हि द्रष्ट्रता शम्भोर्मण्डले कल्पिता मया ॥
होमाधिकरणत्वेन वह्नावहमवस्थितः।
यदात्मतेद्धाः मन्त्राः स्युः पाशप्लोषविधावलम् ॥

— तन्त्रालोक, 16.81-82

35. शिष्य की आत्मा में पररूपता स्थापित कर कलाजाल का द्रावण, नाभिचक्र में प्राणशक्ति का अवष्टम्भन, कलाजाल का विलापन, कर्मबन्ध का उन्मूलन, शुद्ध सोमात्मक ओजोधातु का प्राण से आकर्षण और उससे हृदयकमल-स्थित देवताचक्र का तर्पण एवं 'फ्रेम्' मन्त्र के द्वारा रक्तादि धातुओं का तर्पण इस प्रयोग के अन्तर्गत होता है। इसी में पशुओं के प्रकारों तथा उनके निर्वाणादि का भी निरूपण है। पशु जीव या प्रमाता को मुख्यतः कहा जाता है अतः लौकिक पशु अर्थ न लेकर प्रतीकात्मक अर्थ लेना अधिक उचित है।

36. अहमेव परं तत्त्वं न च तद्घटवत् क्वचित्।
महाप्रकाशस्तत्तेन मयि सर्वमिदं जगत् ॥
न च तत्केनचिद्बाह्यप्रतिबिम्बवदर्पितम्।
कर्ताहमस्य तन्नान्याधीनं च मदधिष्ठितम् ॥
इत्थंभूतमहाव्याप्तिसंवेदनपवित्रितः।
मत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधीयते ॥—तन्त्रालोक, 16.90-92

37. (क) स्वच्छन्दतन्त्र 4.97, ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 2.15, तन्त्रालोक आह्निक 6-8,15, तन्त्रसार आदि।
(ख) तत्त्वप्रकाश व्याख्या, पृ० 33-42, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति, पटल 17
(ग) डॉ० श्रादर ने अहिर्बुध्न्यसंहिता की भूमिका में पांचरात्र के अनुसार, टी० ए० गोपीनाथराव ने 'एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी' में सिद्धान्तसारावली आदि शैवसिद्धान्त के अनुसार और उडरफ ने 'गार्लैण्ड ऑफ लेटर्स' में, ब्रजवल्लभ द्विवेदी (तन्त्रयात्रा) तथा रघुनाथ पाण्डेय ने (सारस्वतीसुषमा, वर्ष 15, अंक 1-4) संस्कृत में षडध्वा का प्रतिपादन किया है।

38. सात्त्वतसंहिता, 19.126-59; लक्ष्मीतन्त्र, अ० 18-22

39. कला तत्त्वं च भुवनं वर्ण पदमतः परम्।
मन्त्रश्चेति समासेन षडध्वा परिपठ्यते ॥—7.2.17.2
और भी द्रष्टव्य है—7.2.17, 3-7 तथा 7.1.29.4-8, 11-12

40. द्रष्टव्य, चिद्वल्ली, कामकलाविलास टीका, पृ० 18

41. भुवनादित्रयं वाच्यं पदादिवाचकं त्रयम्।
शक्तिरेतच्चाध्वषट्कं शक्तिमाँस्तु महेश्वरः।— शिवोपाध्याय, विवृति

महार्थमंजरी (कारिका 17) की परिमलटीका में महेश्वरानन्द ने षडध्वा को अर्थरूप प्रकाश तथा शब्दात्मा विमर्श के आधे-आधे भाग को यामल (शिव-शक्ति-सम्मिलन) कहा है —

यदध्वनां च षट्कं तत्र प्रकाशार्धलक्षणमर्धम्।
विमर्शशब्दस्वभावमर्धमिति शिवस्य यामलोल्लासः ॥

42. स्थूल से भेद का, सूक्ष्म से भेदाभेद का तथा पर से अभेद का विमर्श होता है। पूर्ववर्ती अध्वा परवर्ती में व्यापक भाव से तथा परवर्ती पूर्ववर्ती में व्याप्य भाव से रहता है। इस प्रकार इनमें परस्पर व्याप्यव्यापकभाव भी माना गया है। द्र० स्वच्छन्दतन्त्र, 4.95-97

43. (क) द्विधा च सोऽध्वा क्रियया मूर्त्या च प्रविभज्यते। —तन्त्रालोक, 6.22

(ख) तत्र क्रियाभासनं यत् सोऽध्वा कालाह्व उच्यते।
वर्णमन्त्रपदाभिख्यमत्रास्तेऽध्वत्रयं स्फुटम्॥
यस्तु मूर्त्यवभासांशः स देशाध्वा निगद्यते।
कलातत्त्वपुराभिख्यमन्तर्भूतमिह त्रयम्॥
त्रिकद्वयेऽत्र प्रत्येकं स्थूलं सूक्ष्मं परं वपुः।
यतोऽस्ति तेन सर्वोऽयमध्वा षड्विध उच्यते॥

—तन्त्रालोक, 6.34-36

(ग) मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः॥

— ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, 2.15

विवेककार ने पदों को मन्त्र से निर्मित, मन्त्रों को वर्णों से और वर्णों को स्वनिष्ठ बताकर इनका स्थूल, सूक्ष्म तथा परात्मक होने का उल्लेख किया है—

पदानि मन्त्रारब्धानि मन्त्रा वर्णैकविग्रहाः।
वर्णाः स्वनिष्ठा इत्येषां स्थूलसूक्ष्मपरात्मता॥— वही, 6.36 पर विवेक

वर्ण, मन्त्र, पद तथा कला, तत्त्व, भुवन का द्रष्टा से तादात्म्य हो जाने पर ये सभी द्रष्टा बन जाते हैं। प्रणव मन्त्र के बिन्दु, नाद, व्योम, मन्त्र, भुवन और विग्रह के रूप में 6 भेद भी किये गये हैं। —द्र० तन्त्रालोक, 1.6

44. एको नादात्मको वर्णः सर्ववर्णाविभागवान्।
सोऽनस्तमितरूपत्वादनाहत इहोदितः॥
स तु भैरवसद्भावो मातृसद्भाव एष सः।
परा सैकाक्षरा देवी यत्र लीनं चराचरम्॥ —तन्त्रालोक, 6.217-18

45. प्राणवाह में वर्ण-पद-मन्त्र का उदय दो प्रकार का है, स्वाभाविक और प्रयत्न-साध्य। वर्ण नियत होते हैं अतः उनका उदय स्वाभाविक कहलाता है, मन्त्र और पद अपरिगणनीय होने के कारण अनियत होते हैं अर्थात् उनकी संख्या निश्चित नहीं होती। जिस योगी को जो मन्त्र या पद (मन्त्रसमूह) अभिप्रेत है वह उसकी इच्छा पर निर्भर है। अतः मन्त्र और पद प्रायत्निक हैं।

— तन्त्रालोक, 6.216 पर विवेक (177)

वर्ण स्वर-व्यंजन के रूप में विभक्त हैं। इनकी कुल संख्या पचास है।

अ, इ, उ, ये तीन ह्रस्व स्वर हैं और क्रमशः अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष के प्रतीक हैं। आ, ई, ऊ क्रमशः आनन्द, ईशान तथा ऊर्मि के प्रतीक हैं। ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, षण्ढ स्वर हैं जिनका मन्त्र में उपयोग नहीं किया जाता। '**स्वकर्मणि अकिंचित्कर**' होने के कारण इन्हें षण्ढ कहा गया है। ए, ऐ, ओ, औ सन्ध्यक्षर कहलाते हैं। अनुस्वार और विसर्जनीय को मिलाकर सोलह स्वर हैं जिनमें से चार षण्ढ स्वरों को छोड़ कर बारह स्वर साधना में प्रयुक्त होते हैं। अ, इ, उ, म् मिलकर प्रणव-मन्त्र है। हकार से लेकर ऊकार तक नवात्म मन्त्र है। इन्हें पिण्डमन्त्र कहा जाता है क्योंकि इनमें वर्णों की स्थिति पृथक्-पृथक् होती है तथा अंत में हल होता है। 'सोऽहम्' मे सकार-हकार का लोप होने पर ओम् का स्वरूप निर्गलित होता है अतः वह भी प्रणव-मन्त्र है। तन्त्रालोक में ग्यारह प्रमुख मन्त्रों का उल्लेख है। 'ॐ नमः शिवाय' षड्वर्णात्मक मन्त्र है, 'सोऽहम्' अथवा 'अहंसः' अजपा मन्त्र है। जयरथ ने सकार व हकार से उत्पन्न जप को सहज कहा है—(तन्त्रालोकविवेक, 3.170)

अ का स्थान नाभि है, उ का हृदय, म् का मुख, विन्दु का भ्रूमध्य तथा अर्धचन्द्र का ललाट। इनके सूक्ष्मतम रूप निरोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना तथा उन्मना हैं, जिनका स्थान क्रमशः ललाट का ऊर्ध्व भाग, शिर, ब्रह्मरन्ध्र, त्वक्, शिखामूल, शिखामध्य तथा शिखा का अन्त भाग है। वर्ण का सूक्ष्मतम रूप उन्मना अंत में व्योमाकार शिव या परमाकाश में विश्रान्त हो जाता है। शाक्तप्रणव 'ह्रीं' है और 'हूं' शैव प्रणव है। प्रणव बीज मन्त्र है। प्रणव की बारह कलाओं के स्वरूप, उच्चारणकाल और स्थान (ऊपर उल्लिखित) का योगिनीहृदय (1.27-28) में निरूपण है। कविराज जी ने 'तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि' (पृ० 308) में इसका स्पष्टीकरण किया है।

ह्रस्वस्वर का उच्चारण-काल मात्रा है। पचास वर्णों का 81 अर्ध-मात्राओं में विभाजन किया जाता है जिनमें आदि की तैंतीस, ह्रस्व की दस, दीर्घ की बत्तीस तथा प्लुत की छः अर्धमात्राएं होती हैं। ये 81 अर्धमात्राएं मन्त्रात्मक हैं, अतः उन्हें श्रीमातंग तन्त्र में एकाशीतिपदा देवी (मन्त्रमाता) कहा गया है (द्र० तन्त्रालोक, 6.226-27)। जन्माग्र, मूल, कन्द, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, ललाट, ब्रह्मरन्ध्र, शक्ति तथा व्यापिनी इन द्वादश चक्रों या आधारों में द्वादश स्वरों की भावना का भी उल्लेख मिलता है।

46. संविद्रूपस्यात्मनः प्राणशक्तिं पश्यन्रूपं तत्रगं चातिकालम्।
साकं सृष्टिस्थेमसंहारचक्रैर्नित्योद्युक्तो भैरवभावमेति ॥—तन्त्रसार, पृ० 61

47. प्राण के अस्त होने पर और अपान के उदय न होने पर तथा अपान के अस्त होने और प्राण के उदय न होने पर बाह्य कुम्भक तथा अन्तःकुम्भक बिना

प्रयत्न के सध जाते हैं। यही मध्यदशा है। कुण्डलिनी को महामाया भी कहा जाता है। वह शिव की समवायिनी शक्ति है। इसी से नाद और बिन्दु की उत्पत्ति होती है। कुछ आचार्य नाद को महामाया (शक्ति) मानते हैं और कुछ बिन्दु को, कहीं-कहीं बिन्दु को शिव या सदाशिव माना गया है। **'अतो बिन्दुरतो नादः'** के अनुसार पहले बिन्दु है, बाद में नाद-तत्त्व। अभिप्राय यही है कि नाद-बिन्दु शिवशक्ति-रूप हैं और महामाया में क्षोभ से उत्पन्न होते हैं अतः उसके कार्य भी माने जाते हैं। महामाया की ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी येचार प्रकार की वागात्मिका वृत्तियां मानी गई हैं—**तस्याश्चतस्रो वाग्रूपा वृत्तयो वैखर्यादयः। वैखरी मध्यमा चान्या पश्यन्ती सूक्ष्मसंज्ञिताः॥** नाद से क्रमशः बिन्दु, अक्षर तथा मातृका का प्रादुर्भाव माना जाता है। निवृत्ति आदि कलाएं भी बिन्दु का कार्य मानी गई हैं। शिवदृष्टि (देखिए उत्पलकृत टीका, पृ० 102-104) व तन्त्रालोक (16.221) में नाद को शिवात्मक माना गया है। अस्तु, कुण्डलिनी, महामाया, शिव-शक्ति एवं नाद-बिन्दु का परमतत्त्व से ऐकात्म्य है। संप्रदायभेद से संज्ञाभेद अवश्य है।

48. शैवागमों (स्वच्छन्दतन्त्र, 4.198-200) में 224 भुवन माने गए हैं। समस्त भुवनों का शक्ति, माया, प्रकृति तथा पृथ्वी के चार अण्डों मे विभाग किया जाता है। प्रत्येक अण्ड के अन्तर्गत अनेक भुवन आते हैं। इन्हीं की ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, रुद्रलोक आदि संज्ञाएं भी हैं। तन्त्रसार (पृ० 63-68) में इनका संक्षिप्त निर्देश है। छत्तीस तत्त्व ही भुवनरूप में स्थित हैं। मतंगतन्त्र, विद्यापाद के (23-25) पटल, मालिनी-विजय पंचम अधिकार, स्वच्छन्दतन्त्र के दशम पटल, तन्त्रालोक के आठवें आह्निक में भुवनों का विस्तृत विवरण मिलता है।

49. भर्तृहरि का प्रसिद्ध लक्षण "उपादायापि ये हेयास्तानुपायान्प्रचक्षते" तान्त्रिकों ने अपनाया है। साथ ही उपाय की अन्तिम अवस्था को उपेय भी घोषित किया है।

50. योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्यस्य वस्तुनः।—मालिनीविजय, 4.4

त्रिकदर्शन में अष्टांग योग के स्थान पर केवल षडंग योग ही स्वीकार किया गया है। पातंजल योग के यम, नियम तथा आसन को अस्वीकार कर और तर्क (सत्तर्क या शुद्धविद्या) को उत्तम योगांग (तर्को योगांगमुत्तमम्) (मालिनीविजय 17.18 तथा तन्त्रालोक 4.15) मानकर शैवयोग 6 प्रकार का है—प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। इनमें से प्रथम तीन को बहिरंग और अंतिम तीन को अन्तरंग माना जाता है। जयरथ ऊह को तर्क का पर्याय मानते हैं। बौद्ध भी योग को षडंग मानते हैं—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि (द्र० गुह्यसमाजतन्त्र, 18.140 तथा गोपीनाथ कविराज की 'भारतीय संस्कृति और साधना',

पृ० 537-540) । तर्क, ऊह, अनुस्मृति, अभिवीक्षण (मृगेन्द्रागम, योगपाद 3) को पर्याय माना जा सकता है ।

51. अभिनवगुप्त से पूर्व केवल तीन उपाय माने जाते थे । उन्होंने अनुपाय नामक चौथे उपाय को प्रस्तुत कर उसे सर्वाधिक महत्त्व दिया है । गुरु तथा शास्त्र की अपेक्षा स्वयं के अनुभव की प्रधानता तथा योगांगों में सत्तर्क को उत्तम मानने तथा शक्तिपात के अहैतुक, निरपेक्ष तथा अक्रमरूप होने के त्रिकदर्शन के सिद्धान्त की स्वाभाविक तार्किक परिणति अनुपाय की स्थापना है । भेद, अभेद, भेदाभेद से परे अनुत्तर तत्त्व की अथवा शिव की विश्वोत्तीर्णता की अवधारणा भी इसकी समर्थक है । अनुपाय का तन्त्रालोक के प्रथम तथा द्वितीय आह्निक में विस्तृत विवेचन है ।

52. समस्तमिदमेकं चिन्मात्रतत्त्वं कालेनाकलितं, देशेनापरिच्छिन्नम्, उपाधिभिरम्लानम्, आकृतिभिरनियन्त्रितम्···स्वतन्त्रमानंदघनं तत्त्वं तदेवाहम् । तत्रैवान्तर्मयि विश्वं प्रतिबिम्बितं एवं दृढं विविञ्चानस्य पारमेश्वरः समावेशो निरुपायक एव । तस्य च न मन्त्रपूजाध्यानचर्यादियन्त्रणा काचित् ।

—तन्त्रसार, पृ० 9

53. (क) उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ।—विवेक, 2.2

(ख) उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् ॥

—तन्त्रसार, 2.6

54. वस्तुतो हि परप्रकाशात्मा शिव एव उपेयः । स च सर्वत एवावभासते तस्य क्वचिदपि अनपायात् ।—(विवेक 1.145)···एकएव ज्ञानात्मा मोक्षावाप्तावुपाय इति न उपायनानात्वम् । अतएव तत्फलभूते मोक्षेऽपि न कश्चिद्भेदः··· काल्पनिकेऽपि हेतुफलयोर्भेदे ज्ञानात्मा एक एव उपायोऽभ्युपगतः इति उपायनानात्वस्यैवाभावात् को नाम फलभूतेऽपि मोक्षे भेदः स्यात् ।

—(वही, 1.165)

55. ततोऽपि परमं ज्ञानमुपायादिविवर्जितम् ।
आनन्दशक्तिविश्रान्तमनुत्तरमिहोच्यते ॥—तन्त्रालोक, 1.242

56. मन्त्रमुद्राक्रियोपासास्तदन्या नात्र काश्चन ।—वही, 3.270

57. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रतिबोधितः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ॥—मालिनीविजय, 2.23

58. निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत् ।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने ॥—विज्ञानभैरव, 108

59. स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पमेव भैरवसमावेशमनुभवति ।

—तन्त्रसार, पृ० 10

60. मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम् ।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः ।। —तन्त्रालोक, 3.280

61. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य परात्रींशिकाविवरण, तन्त्रसार, मालिनी-विजयोत्तरतन्त्रम् ।

62. उच्चारकरणध्यानवर्णस्थानप्रकल्पनैः ।
यो भवेत्स समावेशः सम्यगाणव उच्यते ।।
—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र, 2.21

63. निजानंदे प्रमात्रंशमात्रे हृदि पुरा स्थितः ।
शून्यतामात्रविश्रान्तेर्निरानन्दं विभावयेत् ।।
तत्रानन्तप्रमेयांशपूरणापाननिर्वृतः ।।
परानन्दगतस्तिष्ठेत् अपानशशिशोभितः ।
ततोऽनन्तस्फुरन्मेयसंघट्टैकान्तनिर्वृतः ।।
समानभूमिमागम्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् ।।
ततोऽपि मानमेयौघकलनाग्रासतत्परः ।
उदानवह्नौ विश्रान्तो महानन्दं विभावयेत् ।।
निरुपाधिर्महाव्याप्तिर्व्यानाख्योपाधिवर्जिता ।
तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः ।।—तन्त्रालोक, 5.4-48

64. यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत् ।
यदनाहतसंवित्ति परमामृतबृंहितम् ।
यत्रास्ति भावनादीनां न मुख्या कापि संस्थितिः ।।
तदेव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान् ।
यत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ।। —वही, 5.50

इस जगदानन्द के अनुभव से प्रकट होने वाले बाह्य लक्षण : प्राणों में आनन्द, उद्भव या उछल पड़ना, रोमांच (कंप), अन्तर्मुखता से निद्रारूपता तथा घूर्णि (आन्दोलित हो जाना) हैं (द्र० तन्त्रालोक, पृ० 101-107) इनकी अनुभूति क्रमशः त्रिकोण (योगिनीवक्त्र), कंद (लिंगमूल), हृदय, तालु तथा द्वादशान्त में होती है ।—वही, 5.111

65. करण के सात भेद हैं—ग्राह्य, ग्राहक, संवित्ति, व्याप्ति, त्याग, आक्षेप, निवेशन । इनका विवरण तन्त्रालोक के क्रमशः 16, 11, 15, 29 आह्निकों में तथा मुद्राओं का स्वरूप-निरूपण 32वें आह्निक में किया गया है ।

66. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् । —मालिनीविजयवार्तिक, 1.698

67. तन्निपाताच्च तस्येत्थमज्ञस्याप्यभिलाषिणः ।
बुद्धिरुत्पद्यतेऽकस्माद् विवेकेनात्मवर्त्तिना ।।
—मतंगसूत्र, विद्यापाद, 4.45

68. (क) शक्तिपातात् सद्गुरुविषया पिपासा भवति। असद्गुरुविषयायान्तु तिरोभाव एव। असद्गुरुतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव।

तन्त्रसार, पृ० 122

(ख) भुक्तिमुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति।—मालिनीविजयोत्तरतन्त्र

69. (क) स्वातन्त्र्यसारश्चामौ परमशिवः शक्तेः पातयिता इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूपप्रथाफलः।—तन्त्रसार, पृ० 122

(ख) इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता॥

—मालिनीविजयवार्त्तिक, 1.698

70. द्र० मालिनीविजयवार्तिक।

71. अभिनवगुप्त ने भक्ति का यह निरूपण मतंगतन्त्र के आधार पर किया है। विवेककार ने उसके उद्धरण भी दिये हैं। तन्त्रालोक तथा विवेक से कुछ अंश इस भक्ति-सिद्धान्त के सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। (मतंगतन्त्र का विवेचन मुनि के इस प्रश्न के सन्दर्भ में था कि चर्या से ही मुक्ति कैसे मानी जा सकती है?)

शक्तिपातोदये जन्तोर्येनोपायेन दैशिकः।
करोत्युद्धरणं तत्तन्निर्वाणाय प्रकल्पते॥
उद्धर्ता देवदेवो हि स चाचिन्त्यप्रभावकः।
उपायं गुरुदीक्षादिद्वारमात्रेण संश्रयेत्॥
उक्तं श्रीमन्मतंगाख्ये मुनिप्रश्नादनन्तरम्॥—25.23-24
प्राप्तमृत्योर्विषव्याधिशस्त्रादि किल कारणम्।
अल्पं वा बहु वा तद्वदनुध्या मुक्तिकारणम्॥
मुक्त्यर्थमुपचर्यन्ते बाह्यलिंगान्यमूनि तु।
इति ज्ञात्वा न सन्देह इत्थं कार्यो विपश्चिता॥
इयतैव कथं मुक्तिरिति भक्तिं परां श्रयेत्॥
(शक्तिपातैकलक्षणा अनुध्या भक्तिरेव मुख्यं कारणम्।)

—वही, 27-28 विवेक

निपाताद्यत्स्फुटं चिह्नं भक्तिरव्यभिचारिणी।
तया शिष्यस्य सततमनिवारितवीर्यया॥
पुंसः प्रसन्नभावस्य शिवत्वं व्यक्तिमेति हि॥—विवेक में उद्धृत मतंगतन्त्र

72. न पादपतनं भक्तिर्व्यापिनः परमेशितुः।
भक्तिर्भावस्वभावानां तदेकीभावभावनम्॥—क्षेमेन्द्र, गीतानिष्यन्द में उद्धृत

73. अणिमादिगुणावाप्तिः सदैश्वर्यं भवक्षयः।
अमी भव भवद्भक्तिकल्पपादपपल्लवाः॥

74. उपर्युक्त वचन क्रमशः वरव सं० 36, 57, 73, 61, 32 हैं जो बी० एन० परिमाबू की 'द एसेण्ट ऑफ़ सेल्फ़' से उद्धृत हैं।

75. (क) तस्मात्समत्वं मूलं तु व्रतानां परमं व्रतम्।

—तन्त्रालोकविवेक, 12-12

(ख) स्वपरस्थेषु भूतेषु जगत्यस्मिन्समानधीः। —नेत्रतन्त्र, 8.18

(ग) प्राणचारे समदर्शनम्। —शिवसूत्र

76. संपूर्ण श्लोक (तन्त्रालोकविवेक 2.38) इस प्रकार है—

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नात्
नो पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्तारिवलभवमलः भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥

इसी अभिप्राय को अभिनवगुप्त ने दूसरे शब्दों में प्रकट किया है। सारी यन्त्रणाओं के जाल को अपने शस्त्र से काटने वाले (जीवन्मुक्त) योगी के लिए दूसरों पर अनुग्रह करने के अतिरिक्त जीवन का कोई दूसरा प्रयोजन शेष नहीं रहता —

समस्तयन्त्रणातन्त्रत्रोटनाटंकधर्मिणः।
नानुग्रहात्परं किंचिच्छेष वृत्तौ प्रयोजनम्॥—तन्त्रालोक, 2.38

उसे मन्त्र, ध्यान, पूजा, स्थानकल्पना (समयी से आचार्यपर्यन्त तक का कोई भी कृत्य) नहीं करना होता है। उसका एक ही उद्देश्य होता है—लोकानुग्रह। —वही, 2.37

□ □

अनुक्रमणी

अकल्प 55
अकल्पित 50
अकार 6
अकार्पण्य 70
अकिंचित् चिन्तक 58
अक्षर 75
अक्ष सूत्र 61
अज्ञान 4, 33, 40
अंगिरस 5
अंगुत्तर 11
अग्निचयन 5, 19
अघोर 8
अघोरेशतंत्र 10
अज 24
अजडप्रमातृसिद्धि 14
अजपा 64
अजित 23
अडयार लाइब्रेरी बुलेटिन 11
अणु 3, 59
अतिसर्ग 2
अथर्वक 24
अथर्वन् 5
अथर्ववेद 5
अथर्वांगिरस 5
अद्वय 29, 31, 38, 63
अद्वय प्रधान 4
अद्वयभाव 54
अद्वयवाद 28
अदृष्ट 33
अद्वैतदर्शन 13, 28, 29
अद्वैतप्रधान 12
अद्वैतवाद 13, 28, 29
अधिवास 3, 25, 53, 54
अध्यवसायात्मक 40
अध्ययन 70
अध्वा 3
अनन्तनाथ 56
अनसूया 70
अनाख्य 27, 60
अनाख्यचक्र 59
अनायास 30
अनाहतनाद 61
अनिर्वचनीय 36
अनिर्वचनीयख्याति 40
अनुग्रह 32, 36, 45, 66
अनुचक्र 55
अनुत्तर 27, 28, 30, 31, 61, 74, 76
अनुत्तरशतक 25
अनुत्तरसूत्र 26
अनुत्तराष्टिका 15
अनुपाय 57, 58, 76
अनुभवनिवेदन स्तोत्र 15
अनुभवस्तोत्र 45
अनुभाव 34
अनुमान 39
अनुशासनपर्व 11
अनुसंधानात्मनम् 41
अनुस्मृति 75, 76
अनृत 68
अन्तर्निमेष 34
अन्तरात्मा 34
अन्तः कुम्भक 74

अन्धक 24
अन्यथाख्याति 40
अंश 30, 65
अंशांशिभाव 34
अंशी 34
अंशुमान 23
अपरा 61
अपवर्ग 35
अपवाद 32
अपान 56, 60, 74
अप्पयदीक्षित 9
अप्सरा 5
अभिचार 5
अभिनव 9
अभिनवगुप्त 2, 4, 9, 10, 12, 15, 17, 36, 52, 62, 67, 69, 76, 78, 79
अभिनवभारती 14
अभिमानता 68
अभिवीक्षण 76
अभिषेक 3, 5, 25
अभेद 73, 76
अभेदप्रधान 11, 29
अभेदात्मक 57
अभ्यंग 70
अभ्युदय 2
अमर्दक 12
अरुणादित्य 26
अरुलवन्दि शिवाचार्य 9
अर्चना 5, 65
अर्चा 25
अर्थक्रिया 43
अर्थक्रियाकारी 38, 39
अर्थशास्त्र 1
अर्बुद 19
अवच्छेदक 30, 36
अविद्या 13, 29
अविनाभाव 31, 43
अविवेकिता 33
अशंक 25
अशनि 6
अष्टकादियाग 12
अष्टांगयोग 75
असंख्यारसहस्र 61
असच्छास्त्र 7
असत् 37
असत्ख्याति 40
असत्प्रलाप 68
असूया 68
अस्त्र 59, 70
अस्पृहा 70
अहन्ता 34
अहिर्बुध्न्यसंहिता 72
अहोरात्र 56, 60
आ 74
आइडेंटिटी 40
आक्षेप 77
आख्यान 19
आगम 1, 2, 5, 8-12, 17, 31
आगमदर्शन 37
आगमप्रामाण्य 8
आगमशास्त्र 40
आगमाधिकार 14
आग्नेय 22
आचमन 53
आचार 14
आचार्य 51, 52, 69, 79
आज्यसंस्कार 3
आणव 40, 57, 59
आणवमल 40
आणवोपाय 13
आत्मकथा 15
आत्मख्याति 40
आत्मगुण 54, 70
आत्मपरामर्श 34, 39
आत्मलिंग 6
आत्मविलास 27
आत्मा 14, 65, 72
आथर्वण 24
आधारशक्ति 54
आनन्द 32, 36, 38, 40, 57, 74
आनन्दभट्ट 26
आनन्दशास्त्र 52

आनन्दात्मक 31
आनन्दादित्य 26
आममांस 70
आम्नाय 32
आरण्यक 7
आरम्भ 37
आरम्भसिद्धि 25
आर्य 5
आर्हत 2
आवरण 40
आश्रमधर्म 2
आसन 75

इच्छा 32, 33, 37, 42, 57, 74
इच्छाशक्ति 34, 40
इच्छोपाय 57
इडा 57
इतिकर्तव्यता 53
इतिहास-पुराण 7, 10
इदन्ता 30, 34
इष्टका 19
ईर्ष्या 68
ईशान 5, 6, 73
ईशानमुख 9
ईशानशिवगुरुदेव पद्धति 72
ईश्वर 30, 34, 41, 56
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 16, 35, 44, 45, 46-48, 63
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति 14
ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति 14
ईश्वरसिद्धि 19
ईश्वरस्वरूप 17
ईश्वराद्वयवाद 28, 29, 30

उग्रदेव 6
उच्चाटन 8
उच्चार 59
उच्छलता 19
उडरफ 72
उत्पल 13, 34, 49, 75
उत्पलदेव 14
उत्तराध्ययन सूत्र 10
उत्प्रेक्षारूप 41
उत्फुल्लक 24
उत्सर्ग 32
उत्सव 10
उदयनाचार्य 10
उदान 56, 60
उदयाकर 14
उन्मना 74
उन्मेष 34, 74
उपकरण 70
उपदेष्टृभेद 9
उपनिषद् 2, 7, 36
उपराग 33
उपाख्या 39
उपाधि 30, 36, 65
उपाय 58, 68
उपासना 5, 65
उपेक्षा 67
उमा 34
ऊर्ध्वलिंग 6
ऊर्मि 13, 31, 73
ऊह 76

ऋग्वेद 5, 20

एकाक्षरापरादेवी 56
एकाक्षरीमालिनी 58
एकाशीतिपदा देवी 74
एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आइकोनोग्राफी 1, 72
ऐतरेय आरण्यक 5, 20
ऐतरेय ब्राह्मण 6
ऐतरेयोपनिषद् 60
ऐश्वर्य 34, 39, 63

औरंगजेब 15

कंचुक 35, 40
कंद 77
कदम्बिका 24
कन्वर्स 19
कपालीश 23
कबन्ध 24
करण 59, 77

करुणा 66, 67
कर्तृत्व 13, 32
कर्तृत्वशक्ति 4
कर्म 3, 50
कर्मकाण्ड 5, 8, 15
कर्मयोगी 51
कर्मकाण्ड क्रमावली 68
कला 35, 38, 40, 55, 57, 73, 75
कलातत्त्व 3, 30
कलियुग 11
कल्पक 50
कल्पवृक्षप्रबन्ध 16
कल्याणिका 59
कल्लट 26
कविराज 7, 11, 23, 74
कवीन्द्राचार्य सरस्वती 11
क्रम 16, 27
क्रम तान्त्रिसिज्म ऑफ काश्मीर 19
क्रमनय 58
कमस्तोत्र 15, 50
कात्यायनी तंत्र 3
कान्तिचन्द्र पाण्डेय 16
कामकलाविलास 72
कामिकागम 1, 9, 23, 26
कारण 23
कार्म 40
काल 1, 25, 30, 55, 56
कालकारणिक 14
कालशक्ति 55
कालाध्वा 25, 55
कालिदास 31, 42
काली 28, 55, 58
कालीकुल 27
कालीनय 27, 59
कालीबंगन 7
कालोदय 56
किरण 22
किरणागम 22, 23
कुण्डमण्डलादि 51
कुण्डलिनीयोग 5, 60
कुण्डलिनी शक्ति 56
कुब्जिकातन्त्र 3, 10
कुमारसम्भव 42
कुमारिल 8
कुमार 6
कुम्भ 54
कुम्भक 74
कुल 16, 27, 43, 58
कुलगह्वर 2
कुलदर्शन 27
कुलशास्त्र 24
कुलार्णवतन्त्र 2, 22
कुल्लूक भट्ट 8
कृति 32
कृत्या 5
केयूरवती 59
केवलज्ञान 33
कैवल्य 35
कोरदोजी संस्कृति 7
कौत्स 7, 19
कौमुदी 26
कौल 60
क्रिया 5, 26, 32, 37, 40, 42, 51, 57, 58, 66
क्रियादीक्षा 25
क्रियाधिकार 14
क्रियापाद 5
क्रियावती 51
क्रियाशक्ति 63
क्रियाशीलता 40
क्रियासार 8, 9
क्रीडा 36
क्रोध 23
क्षमा 70
क्षितिकण्ठ 15
क्षेत्रपति 54
क्षेमराज 9, 10, 26, 43
क्षेमेन्द्र 78
खच्चक्र 24

गणेश 54
गन्धर्व 5
गमशास्त्र 12

गर्भाधान 70
गर्व 68
गायत्री 64
गार्लेण्ड ऑफ लेटर्स 72
गीता 34, 36, 45, 67
गीता निष्यन्द 78
गुण 30, 34, 63
गुरु 50, 54, 68
गुरुनाथ परामर्श 15
गुह्य 24
गुह्यसमाजतन्त्र 75
गोपीनाथ कविराज 75
गोपीनाथराव 1
गोवर्धनराय 7, 19
गोविन्दराज 59
ग्राहक 77
ग्राह्य 77

घटिका 56

चक्र 61
चक्रपूजन 27
चक्राष्टक 12, 24
चण्ड 23
चण्डोग्रघोरकाली 59
चतुष्पंचारक 61
चतुषष्टिशतार 61
चन्द्रलेखा 24
चन्द्रा 24
चन्द्राकृष्टि 3, 25
चन्द्राक्षु 12
चमत्कार 13, 63
चरकसंहिता 1
चरु 3, 5
चर्पटमञ्जरी 15
चर्या 5, 26, 51, 58, 70
चर्वणा 63
चषक 56, 63
चार्वाक 7, 8, 43
चालिका 24
चित् 32, 40
चित्त 30
चित्तसन्तोषत्रिंशिका 25
चिति 30
चित्रिका 24
चिदात्मा
चिदानन्द 59
चिद्वल्ली 72
चिन्तामणि 60
चिन्त्य 23
चीनाचार 10
चुल्लधम्मसमाधानसुत्त 11
चुल्लवग्गमज्झिमनिकाय 11
चेतना 31, 40
चैतन्य 30, 32, 34, 36, 38, 39

छान्दोग्य 6
छुम्मका 25

जगत् 3
जगदानन्द 59, 77
जटा 27
जप 3, 5, 58, 65, 66
जयदेवसिंह 71
जयन्तभट्ट 8
जयरथ 12, 15, 22, 23, 52, 71
जयाख्यसंहिता
जरत्कर्ण 19
जाग्रत 56
जातकर्म 70
जीव 4, 29, 65
जीव-मुक्ति 42, 57
जे.एन. चटर्जी 6
जैन 8, 10, 11, 66
जैमिनी 45
ज्ञातृत्व 13
ज्ञान 5, 22, 32, 42, 50, 66
ज्ञानतिलक 25
ज्ञानपाद 5
ज्ञानमञ्जरी 25
ज्ञानयोगी 51
ज्ञानयोग्य 51
ज्ञानवतीदीक्षा 51

ज्ञानाधिकार 14
ज्वालिन 24

टी.ए. गोपीनाथराव 72

डा. श्रादर 72

तत्त्व 1, 55, 57, 64, 66, 73
तत्त्वज्ञान 50
तत्त्वप्रकाश व्याख्या 72
तत्त्वविवेक 63
तत्त्वार्थ चिन्तामणि 26
तत्पुरुष 9
तन्त्र 1, 3, 4, 10, 11, 12
तन्त्र, दि इण्डियन कल्ट ऑफ एस्टेसी 6
तन्त्रभैरवी 24
तन्त्रयात्रा 72
तन्त्रयुक्ति 1
तन्त्रराज भट्टारक 59
तन्त्रवार्तिक 5
तन्त्रशुद्धि 8
तन्त्रसंग्रहाधिकार
तन्त्रसंहिता 10
तन्त्रसार 4, 15, 22, 46, 47, 61, 72, 75, 76, 78
तन्त्राज स्टडीज ओन देयर रिलीजन एण्ड लिटरेचर 6
तन्त्रालोक 4, 12, 14, 15, 17, 18, 21, 22, 24, 27, 35, 38, 44-48, 50, 52, 59-62, 66-79
तन्त्रालोकविवेक 22, 23, 59, 74, 79
तन्त्रोच्चय 25
तर्क 79
तर्क तीर्थ, लक्ष्मण शास्त्री जोशी 19
तर्पण 5, 59
तादात्म्य 30, 31
तान्त्रिक 27
तान्त्रिक साहित्य 23
तान्त्रिकवाङ्मय में शाक्तदृष्टि 74
तान्त्रिक साधना एवं सिद्धान्त 10
तालु 77
तिथि 56
तीर्थ 65
तीर्थ वर्णन 2
तुटि 56
तुरीय 55
तुरीयातीत 55
तुलादीक्षा 52
तूर 61
तैत्तरीय ब्राह्मण 20
तैत्तरीयसंहिता 19, 20
तैत्तरीय आरण्यक 6
तोडलोत्तर 23
त्याग 77
त्यौहार 14
त्रिक आगम 26

त्रिकसूत्र 13, 26
त्रिकोण 77
त्रिपुरातिलक 24
त्रिशिरस् 13
त्रिशिरोभैरवागम 60
त्रिशूली 29
त्रेता 11
त्रैधातुक 29
त्रैवर्णिक 8
त्र्यम्बक 12, 27
त्र्यम्बकादित्य 14

दन्तकाष्ठ 3
दम 64
दम्भ 68
दया 70
द एसेन्ट ऑफ सेल्फ 79
दास्य 65
दास्यभक्ति 63
दीक्षा 3, 5, 25, 50-53, 62, 69
दीक्षाकर्म 53
दीक्षोत्तर 12, 61
दीन 68
दुखी 68
दुर्गासप्तशती 34
दुर्वृत्तजनकुसंगतिहरण 52
दुर्वासा 12

दु:स्वप्न 70
देव 68
देवतरु 3
देवता 4
देवसंस्थान 2
देवीनय 27
देवीनाम विलास 12
देवीपुराण 21
देवीभागवत 68
देवीयामल 12
देशदोष 71
देशाध्वा 25, 55, 57
देहचक्र 5
देहमार्ग 25
देहस्थदेवता-चक्रस्तोत्र 15
द्वादशान्त 53, 54, 56, 57, 77
द्वापर 11
द्विज 71
द्विजत्व 54, 71
द्वेष 68
द्वैत 17, 28, 29
द्वैतवाद 14
द्वैत-अद्वैत (द्वैताद्वैत) 11, 12, 17, 29, 65

धर्म 11, 34, 40
धर्मशास्त्र 8
धर्मार्थकाममोक्ष 9
धामनिबानपाद 11
धारण 75
ध्यान 5, 58, 59, 65, 66, 79
ध्यानयोग 53, 66
ध्यानविधि 60
ध्वनिवादी 42
ध्वन्यालोक 14

नक्षत्र विज्ञान 3
नयोत्तर 10
नरकवर्णन 3
नलजीवनरस्तोगी 19
नवात्मदेवी 55, 71
नवात्ममन्त्र 71, 74
नर्तक 34
नाट्यशास्त्र 7, 14
नाडी 51
नाडीचक्र 55
नाद 24, 56, 73, 74, 75
नादबिन्दु 75
नादसाधना 5
नादान्त 74
नाभि 74
नाभिचक्र 72
नाम 38
नामक 13
नारसिंह 22
नारायणकण्ठ 26
निकाय 11
निगम 2, 6, 10
निग्रह 32, 36, 50
निजत्व 40
निजानन्द 50
नित्योदिता 61
निद्राविधि 53, 54
निमेष 34
नियति 10, 30, 35, 40
नियम 75
निरधिकार 51
निरानन्द 59
निरीश्वर मीमांसा 7
निरुत्तरवाद 25
निरोधिनी 14
निर्गुण 28, 35
निर्बीज 51, 68
निर्वाण 35
निवृत्ति 57, 75
निवेशन 77
नि:श्वास 22
निश्रेयस 2
नीलकंठ शिवाचार्य 8
नीललोहित 5
नेति नेति 55
नेत्रतन्त्र 13, 26, 79
नेत्रतन्त्रोद्योत 15
नैयायिक 40, 43

न्यायकुसुमाञ्जलि 10
न्यायमञ्जरी 8
न्यायवैशेषिक 33, 35
न्यायशास्त्र 2, 7
न्यास 3, 5, 53, 65

पंचकामगुणदिट्ठ 11
पंचकृत्यकारिता 38
पंचगव्य 3, 53
पंचप्रणव 25
पंचमकार 8
पंचविद्या 6
पंचाशदर 61
पट 61
पतञ्जलि 57
पति 5
पद 3, 55, 73
पद्मपुराण 7, 20
पद्मसंहिता 18
परदारागमन 68
परमलिंग 6
परमविद्या 25
परमाख्या 54
परमाणु 33
परमाद्वयद्वादशिका 25
परमाद्वैत 17, 28
परमार्चनत्रिंशिका 25
परमार्ककाली 59
परमार्थचर्चा 15
परमार्थद्वादशिका 15
परमार्थसार 15, 46
परमेश्वर 22
परमेष्ठी 54
परा 31, 54, 61, 75
परात्रिंशिका 13, 25, 27
परात्रिंशिका विवरण 71, 77
परात्रिंशिकाविवृति 44
परात्रीशिकावृत्ति 27
पराद्वैत 29, 37
परानन्द 59
परापरा 61
पराप्रवेशिका 15
परामर्श 34
परावाक् 2, 4, 31, 39
परासंवित् 35
परिणाम 37
परिणामधर्मी 33
परिमल 19, 49
परिमला (टीका) 72
परुष 68
पशु 4, 5, 26, 72
पशुपति 6, 7, 26
पशुबलि 5
पश्यन्ती 31, 75
पाकयज्ञ 70
पांचरात्र रक्षा 2, 8, 43, 55, 72
पाणिनि 40
पातञ्जलयोग 75
पात्र 61
पारमेश्वर 22
पालि 11
पाश 5, 26, 30, 35, 53
पाशुपत 7, 8, 10
पिंगलमत 2
पिंगला 57
पिण्ड 5
पिण्डमात्र 74
पीठ 2
पुंसवन 70
पुत्रक 57, 52, 68, 69
पुरश्चरण 3
पुरश्चर्यार्वण 68
पुराण 2, 4, 8, 11
पुराणाख्यान 3
पुराणिक एवं तांत्रिक रिलीजन 6
पुरुरुवा 19
पुरुष 5, 6, 33, 40
पुरुषसूक्त 6
पुस्तक 61
पूजन 10
पूजा 4, 5, 27, 58, 63, 65,66, 79

पूर्णता 40, 42
पूर्णाख्यातिवाद 40
पूर्णाहन्ता 4
पृथ्वी 75
पौरुष 4, 40
पौरुषज्ञान 33
पौष्करसंहिता 18
पौष्टिक 5
प्रकाश 4, 5, 30, 33, 39, 40
प्रकाशविमर्शमयता 4
प्रकाशविमर्शात्मक 32
प्रकृति 32, 33, 75
प्रख्या 39
प्रच्छन्न बौद्ध 37
प्रजापति 5
प्रणव 53, 73, 74
प्रतिबिम्ब 38, 46, 47
प्रतिबिम्बन 47
प्रतिबिम्बवाद 38
प्रतिशब्द 47
प्रतिष्ठा 57
प्रत्यक्ष 9, 11, 39, 42
प्रत्यभिज्ञा 16, 41, 42, 43, 65
प्रत्यभिज्ञान 40, 42
प्रत्यभिज्ञा महोदयी 25
प्रत्यभिज्ञाहृदय 15, 27, 43, 49
प्रत्यवमर्शात्मक 31
प्रत्याहार 75
प्रपत्ति 8
प्रमाण 41, 60
प्रमाता 59, 60
प्रमेय 60
प्रयत्न 33
प्रलय 3
प्रलयाकल 35, 50
प्रसिद्धि 2, 9
प्राण 55, 56, 60, 74
प्राणकुण्डलिनी 56, 57
प्राणचार 56
प्राणवृत्ति 55
प्राणशक्ति 56
प्राणापान 53
प्राणायाम 75
प्रेक्षक 34, 38
प्रोद्गीत 22

फट् 70
फलभेद 9
फिलिपराउसन 6
फ्रेम 54, 72

बन्धन 33, 40
बलजिन्नाथ पण्डित 16
बहुरूप 12
बहुरूपाष्टक 24
बादरायण 36
बालतंत्र 25
बिन्दु 24, 73, 75
बिम्ब 46
बिम्बप्रतिबिम्बवाद 25
बीज 70, 50
बीजदोष 71
बीजमन्त्र 5, 6
बी.एन. परिमावू 79
बुद्ध 32, 67
बुद्धि 33, 40
बुद्धिप्रमाता 59
बुद्धिवृत्ति 32, 33
बुभुक्षु 52
बृहदारण्यक 6
बृहद्वातुलीतन्त्र 24
बोधपंचदशिका 15, 44, 46
बोधविलास 15
बौद्ध 2, 4, 8, 10, 11, 35, 37, 39, 40, 41, 43, 66
बौद्ध अज्ञान 41
बौद्धशास्त्र 6, 31, 37
ब्रह्म 6, 31, 37
ब्रह्मकांड 8
ब्रह्मजालसुत 11
ब्रह्मनाडी 57
ब्रह्मबन्धु 5, 54, 74
ब्रह्मयामल 12, 22, 24

ब्रह्मरन्ध्र 54, 74
ब्रह्मलोक 75
ब्रह्मविद्या 8
ब्रह्मसूत्र 8, 20, 36, 37
ब्रह्मा 54, 56
ब्रह्माण्ड 5
ब्रह्मानन्द 59
ब्राह्मण 7
ब्राह्मणग्रन्थ 19

भक्ति 5, 62, 65
भक्ष्याभक्ष 65
भगवद्गीता 10
भगवद्गीतार्थसंग्रह 15
भट्ट नारायण 15
भट्ट प्रद्युम्न 13
भट्ट भास्कर 26
भट्टारक वेदोत्तम 8, 71
भद्र 22
भद्रकाली 59
भर्तृहरि 2, 13, 31
भव
भवक्षय 63
भवभूति 25
भवलिंग 6
भागवत 8
भानुक 59
भामह 42
भारतीय संस्कृति पुरातात्त्विक आधार 7, 19
भारतीय संस्कृति और साधना 75
भावदोष 71
भास्करकण्ठ 16, 25, 63
भास्करराय 8, 23, 36
भास्करी 16, 44, 48
भुवन 3
भुवनकल्प 25
भुवनरूप 3
भुवनाध्वदीक्षा 25
भुवनाध्वा 25
भूतजय 25
भूततन्त्र 24
भूतसंस्थान 3
भूमि 3
भेद 29, 73
भेदप्रधान 11
भेदात्मक 57
भेदाभेद 73, 76
भेदाभेदप्रधान 11
भैरव 11, 23, 28, 30, 54, 67, 71
भैरवतंत्र 23
भैरवमुद्रानुप्रवेश 60
भैरव समावेश 60
भैरवस्तव 15
भैरवस्तोत्र टीका 25
भैरवागम 11, 12
भैरवाष्टक 23
भैरवीशिखा 24
भोग 62
भोगयाग 4, 51, 54
भौतिकता 67
भ्रम 40
भ्रूमध्य 74
मंगल 12, 70
मंगला 24
मंगलाष्टक 24
मण्डल 2, 3, 5, 54, 55, 61, 71
मत 12, 24
मतंगतन्त्र 78
मतंगसूत्र 77
मताष्टक 24
मत्स्येन्द्र 24
मत्स्योदर 24
मत्स्योदरी 13, 23, 31
मदनिका 59
मधुराज 15
मधुविद्या 6
मधुसूदन कौल 25
मधुसूदन सरस्वती 5
मध्यदशा 75
मध्यधाम 61
मद्यपान 70

मनु 8
मनुस्मृति 8
मन्त्र 1, 2, 3, 5, 7, 10, 11, 35, 58, 65, 68, 71-74, 79
मन्त्रचक्र 24
मन्त्रनाडी प्रयोग 54, 55
मन्त्रनिर्णय 25
मन्त्रमहेश 35
मन्त्रमाता 74
मन्त्रलक्षण 2
मन्त्रव्याप्ति 59, 60
मार्तण्डकाली 59
मालिनी 58
मालिनीविजय 13, 75, 76
मालिनीविजयतंत्र 27, 47
मालिनीविजयवार्तिक 44, 77, 78
मालिनीविजयोत्तरतंत्र 3, 13, 18, 25, 66, 77
मास 56
मिथ्या 36
मिथ्यावाद 39
मिलिन्द 11
मीमांसक 32, 40
मुक्ति 57
मुख 74
मुखबिम्ब 22
मुदिता 67
मुद्रा 2, 3, 4, 5, 25, 58, 65, 66, 77
मुनित्रयी 15
मूल 24
मेदिनीकोष 1
मेरुतंत्र 68
मैत्रायणीसंहिता 5, 6
मैत्री 67
मैथुन 11
मोक्ष 4, 33, 35, 51, 57
मोहन 8
मौकुट 23
मौकुटागम 12
मृगेन्द्रतन्त्र 13
मृगेन्द्रागम 76
मृतोद्धारी 52
मृत्युकाली 59
मृत्युंजय 71
मृत्युजित् 26

यजन 5
यजनन्यास 3
यज्ञ 5
यन्त्र 11
यन्त्रनिर्णय 3
यम 75
यमकाली 59
याग 4, 5, 55, 58
यामल 1, 12, 27, 72
यामलतंत्र 24
यामलाष्टक 23
यामुनाचार्य 8
युक्तिदीपिका 1
योग 2, 3, 4, 5, 8, 14, 17, 26, 32
योगग्रन्थ 67
योगज 23
योगदर्शन 67
योगपाद 76
योगराज 15
योगशास्त्र 2
योगसंचर 13
योगांग 41
योगिप्रत्यक्ष 9
योगिनीवक्त्र 77
योगिनीहृदय 74
योगी 35, 79
योगीश्वरी 13, 63, 64
योजनिका 50
यौगिक 50

रक्त 24
रक्तकाली 50
रक्तणन 70
रंग 34
रंगस्थली 34
रघुनाथ पाण्डेय 72

रघुवंश 42
रज 3
रतिशेखर 54
रत्नमाला 13
रथकान्ता 23
रस 6, 42, 66
रसानुभूति 42
रसास्वाद 34
रहस्य 1
रहस्यविधि 60
राक्षस 5
राग 35, 40, 68
राजानकमहेश्वर 17
रात्रिसूक्त 5, 6
रामानुज 8
रामानुज दर्शन 33
रामाशास्त्री 6
रामेश्वर झा 16
रावण 12
रिज डेविड्स 11
रुद्र ५, ६, ११, २४
रुद्रकाली 59
रुद्रयामल तंत्र 3
रुद्रलोक 75
रुद्रशिव 5
रुद्रांश 54
रुरु 24
रुरुभेद 24
रूप 38
रौद्रागम 11, 22, 23
रौरव 22

लक्ष्मणगुप्त 14
लक्ष्मण जू ब्रह्मचारी 17
लक्ष्मी 24
लक्ष्मीतन्त्र 72
लक्ष्मीधर 23
लक्ष्मीराम 26
लक्ष्मी संहिता 3
लम्पट 24
ललित 22
ललितस्वच्छन्द संहिता 25
लल्ल 63
लल्लद 17
लल्लदद 16, 63
लल्लवख (लल्लवाक्यानि) 16, 63
लल्लेश्वरी वाक्यानि 16
ललाट 74
लाट्यायनश्रौतसूत्र 5
लिंगपूजा 65
लिंगमूल 77
लिंगोद्धार 5, 52, 53
लीला 36
लीलामात्र 37
लुप्तागमसंग्रह 23, 72
लोकधर्मी 51, 52, 66
लोकसंग्रह 67
लोकानुग्रह 52, 70
लोकायत 10

वज्र 19
वरदराज 15
वरिवस्यारहस्यप्रकाश 21
वर्ण 3, 24, 56
वर्णभण्ठ 24
वर्णोदय 56, 59
वर्ष 56
वर्षादित्य
वशीकरण 8
वसुगुप्त 13
वाक् 6, 31
वागर्थ संपृक्ति 42
वागाम्भृणीसूक्त 6
वागीश 12
वागीश्वरी 14, 54
वागीशाष्टक 24
वायुल 22
वामकेश्वर 23
वामकेश्वरमत 15
वामकेश्वरी तन्त्र
वामकेश्वरीपटल 24
वामदेव 8

वामाचार 8, 11
वायवीय संहिता 68
विकल्प 58, 66
विकल्पसंस्कार 4
विकल्पात्मक 40
विकार 37
विग्रह 73
विजय 22
विजया 24
विज्ञान 65
विज्ञान भिक्षु 43
विज्ञानभैरव 16, 22, 26, 60, 63, 76
विज्ञानभैरव उद्योत 15
विज्ञानाकल 35, 50
विडंग 24
विद्या 2, 40, 57
विद्याकमल 60
विद्यापाद 75
विधिनिषेध 4, 8
विद्युमान 24
विद्युल्लेखा 24
विद्येश 3
विदूषण 8
विनय 11
विनयशील 10
विन्टरनित्स 17
विभाव 34
विभूति 34
विभूतिपाद 10
विमल 11
विमर्श 5, 9, 30, 40, 56, 66
विमर्शमयता 33
विमर्शशक्ति 2
विमर्शिनी 14, 15
विरज 22
विलास 36
विवरण 15
विवर्त 36, 37
विवर्तवाद 13
विवृति 72
विवृतिविमर्शिनी 14, 15, 67
विवेक 17, 45, 47, 48, 62, 67, 69, 71, 73, 76, 78
विशंतिका शास्त्र 45
विशेषण 33, 65
विश्वमय 27
विश्वात्मा 37, 38
विश्वोत्तीर्ण 27
विषयभेद 9
विष्णु 56
विष्णुकान्ता 23
विष्णुयामल 24
विष्णुलोक 75
विसर 12
विसर्ग 36, 60
वीणा 24
वीरभद्रमहातंत्र 22
वीरशैव 44
वीरेश 22
वेताल 24
वेद 5, 7
वेदान्त 14, 15, 36, 37, 43
वेदान्तदेशिक 8
वेदान्ती 40, 43
वेदार्थ 7
वैखरी 75
वैदिक 2
वैदिक संस्कृति का विकास 19
वैयधिकरण्य 33
वैयाकरण 43
वैशेषिक 7
वैष्णव 11, 25, 33, 52
वैष्णवतंत्र 6
वैष्णव शास्त्र 25
वैष्णवागम 8
व्रजवल्लभ द्विवेदी 12, 23, 24, 72
व्यभिचार 68
व्यापिनी 74
व्याप्ति 77
व्याप्यव्यापकभाव 73

व्योम 73
व्रत 4, 10, 58, 65
व्रत परिभाषा 3
व्रतेश्वर 53
व्रात्य 5

शक्ति 3, 30, 31, 34, 37, 40, 44, 63, 66, 74, 75
शक्तिनिपात 51
शक्तिपात 62, 66, 76
शक्तिवाद 13
शक्तिसिद्धान्त 38
शंकर 7, 8, 15, 16, 28, 31, 32, 36, 37, 41, 42, 43
शतपथ ब्राह्मण 5, 6 19
शतरुद्रीय 5, 6
शब्द 42
शब्दब्रह्म 2
शब्दब्रह्मवाद 31
शब्द ब्रह्मवादी 43
शब्दार्थ चिन्तामणि 2
शम 64
शम्भुनाथ 52, 59, 69
शर्व 6
शर्वलिंग 6
शर्वलिंगपूजा 6
शाक्त 2, 8, 11, 30, 51, 58, 59
शांकरभाष्य 20, 37
शाक्तोपाय 13, 27
शांखायन ब्राह्मण 6
शांत 57
शान्ति 8
शान्तिकपौषाभिचार 5
शान्त्यातीता 57
शाम्भव 57, 58
शाम्भवोपाय 13, 27
शास्त्र 9, 11, 41, 45, 50, 76
शास्त्र समूह 10
शास्त्रसम्मेलन 2
शाहजहां 11, 15
शिखाष्टक 12, 24
शिरश्छेद 10, 24
शिलागुफा 6
शिव 3, 5, 11, 14, 28, 30, 31, 33, 35, 36, 39, 40, 44, 50, 54, 55, 74, 76
शिवजीव दशक 16
शिवतत्त्वविवेक 9
शिवतन्त्र 23
शिवदृष्टि 13, 14, 15, 29, 31, 75
शिवदृष्टिवृत्ति 49
शिवधर्मी 51, 52
शिवपुराण 5, 55, 60
शिव रहस्य 1
शिवलिंग 6
शिवशक्ति 75
शिवशक्तिसामरस्य 13
शिवसूत्र वार्तिक 26
शिवसूत्र 13, 15, 26, 34, 40, 45, 79
शिवसूत्र विमर्शिनी 15, 68
शिवसूत्रवृत्ति 26
शिवस्तोत्रावलि 14, 15, 63
शिवस्तोत्रावलिटीका 15
शिवहस्त 53, 54
शिवहस्तनिधि 54
शिवागम 8, 12, 23
शिवात्मकता 30
श्रमण 5
श्रवण 70
श्राद्ध 70
श्रीअमृतवाग्भवाचार्य 16
श्रीकण्ठनाथ 56
श्रीकंठाचार्य 8
श्रीकण्ठी 22, 23
श्रीकण्ठीसंहिता 12, 23, 24
श्रीकरभाष्य 8
श्रीकृष्ण 34
श्रीनाथ 12
श्रीपरशुरामस्तोत्र 26
श्रीपतिपण्डित 8
श्रीभाष्य 21
श्रीमहानुभवशक्तिस्तव 26

श्रीमातंगतन्त्र 74
श्रीमालिनीविजय 52
श्रीरामानुजाचार्य 8
श्रीराष्ट्रालोक 26
श्रीवत्सांक 25
श्रीविद्या 16
श्रीविंशतिका शास्त्रम् 26
श्रीसंक्रान्ति पंचदशी 26
श्रीसञ्जीवनीदर्शन 26
श्रीसप्तपदी हृदयम् 26
श्रीसिद्धमहारहस्यम् 26
श्रुति 2, 4, 7, 8, 11, 31
श्रुतिप्रामाण्य 8

षट्कर्मसाधन 3, 8
षट्त्रिशततत्त्वस्तोत्र 27
षडमयोग 75
षडध्वसाधना 5
षडध्वा 4, 55, 57, 72
षडर्धविज्ञान 27
षोडशार चक्रात्मक 3
षष्ट 74

सन्ध्यक्षर 74
सप्रत्यया 52
सबीज 51, 68
समता 66
समदर्शिता 67
समना 74
समय 3, 25, 51, 54
समयदीक्षा 53
समयाचार 69
समयी 51, 52, 53, 68, 69, 70, 79
समवायिनीशक्ति 75
समाधि 75
समान 56
समावेश 58, 60
समविशमयी 50
समुत्कान्तिप्रदा 52
सम्बन्धसिद्धि 14
सम्मोह 10, 24
सम्यक्ज्ञान 66
संवित 9
संवित्ति 71
संविदुल्लास 29
सर्वदर्शनसंग्रह 16
सर्वभूतरति 67
सर्वमंगला 24
सर्वसाम्यवाद 30
सर्वाकृति 31
सर्वात्मकता 30
सर्वानन्द 23
सर्वोद्गीता 22
सर्वोल्लासतंत्र 2, 23
संस्कार 9, 70
संस्कारविधि 54
सहजतत्त्व 64
सहधर्मवादी 14
सहभाव 31
सहस्र 23
सहस्रार 6
सहस्राक्ष 5, 6
सांख्य 2, 7, 8, 28, 30, 32
सांख्यकारिका 1
सात्त्वतसंहिता 72
साधक 51, 52, 58, 66, 68, 69
साधना 5, 14, 50, 62, 66, 77
साधिकार 51
सामरस्य 5, 29, 31
सामरस्यमयी 50
सामुदायिक याग 54
सांवृत 29
साम्बपंचाशिकाटीका 15
सायण 16
सायुज्य 70
सारशासन 13
सारस्वती सुषमा 72
सार्ववर्णिक 8
सार्ववर्णिकता 55, 66
साहित्यशास्त्र 7
साहिब कौल 15

सिद्ध 12, 54
सिद्धमत 22
सिद्धमहारहस्य 27
सिद्धयोगीश्वरी तंत्र 3, 25, 29
सिद्धसन्तान 22
सिद्धान्त 2, 55
सिद्धान्तमनोज्ञमञ्जरी 25
सिद्धान्तशिखामणि 68
सिद्धान्तसारावली 72
सिद्धिशासन 13
सिन्धुघाटी 6
सीमान्तोन्नयन 70
सुप्रभेद 23
सुत्तपिटक 11
सूफी 17
सूर्याकृष्टि 3, 25
सृष्टि 3, 82
सृष्टिकाली 58
सृष्टिबीज 61
सोमानन्द 12, 13, 14, 15, 25, 29, 31
सौन्दर्यलहरी 23
सौभाग्यभास्कर 21
सौभाग्यरत्नाब्धिशिवशास्त्र 29
सौरभेय 12
स्तवचिन्तामणि 15
स्तवचिन्तामणि विवृति 15
स्तोमरूपा 50
स्तोत्र 15
स्थण्डिल 61
स्थडिलपूजन 53
स्थानकल्पना 59, 61, 79
स्थानागसूत्र 11
स्थालीपाकयज्ञ 5
स्थिति 31
स्थितिनाशकाली 59
स्नान 58, 65, 66
स्पन्द 13, 16,30
स्पन्दकारिका 13, 26
स्पन्दनिर्णय 15, 26
स्पन्दप्रदीपिका 26
स्पन्दवृत्ति 25
स्पन्दसन्दोह 15
स्पन्दसर्वस्व 26
स्मृति 2, 4, 8, 10, 11
स्मृतिशास्त्र 12
स्वच्छन्द 23, 24
स्वच्छन्दतंत्र 9, 10, 13, 18, 22, 26, 69, 70, 71, 72, 73, 75
स्वच्छन्दभैरव 25
स्वच्छन्दाष्टक 23
स्वच्छन्दोद्योत 1, 10, 26
स्वच्छन्दोद्योतटीका 22
स्वत:प्रमाण 8
स्वतंत्र 30
स्वप्न 55
स्वभाव 9
स्वातन्त्र्य 13, 28, 32, 58, 63
स्वातन्त्र्यदर्पण 27
स्वातन्त्र्यशक्ति 4
स्वायम्भुव 22
स्वानुभव 66

हंस 64
हंसाख्या 24
हवन 60
हिंकार 5
हिंसा 68
हिरण्यलिंग 6
हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर 19
हिस्ट्री ऑफ रिलीजन्स 19
हूं 74
हृच्चक्र 53
हृदय 77
हृल्लेखा 24
हेय 3
होत्री 50
होम 4, 5, 58, 65, 66, 70
ह्रीं 74

ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी. अभिनवगुप्त, सं. पाण्डेय, के.सी., प्रधान स. द्विवेदी, आर.सी. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1986।

कर्मकाण्डक्रमावली, सोमशम्भु, सं. जे.डी. जादू, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1947।

कामकलाविलास, पुण्यानन्द, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं कश्मीर, 1918, अनु. आर्थर एवलॉन, मद्रास, 1953।

कुलार्णवतन्त्र, विद्यारत्न, तारानाथ (सं.), आर्थर एवलॉनकृत भूमिकासहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1975।

जन्ममरणविचार : भट्ट वामदेव, अमरौघानुशासन, गोरक्षनाथ तन्त्रवधानिका : अभिनवगुप्त सं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं कश्मीर, 1918।

ज्ञानार्णवतन्त्र, ईश्वरप्रोक्त, आनन्दाश्रम, 1977।

तत्त्वप्रकाश, भोजराज, सं. मिश्र, कामेश्वरनाथ, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी।

तन्त्रसंग्रह, त्रिपाठी, रामप्रसाद, भाग 3, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी।

तन्त्रसंग्रह, द्विवेदी, व्रजवल्लभ, भाग 4, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1981।

तन्त्रसार, अभिनवगुप्त, अनु. पं. हेमन्द्रनाथ चक्रवर्ती, वाराणसी।

तन्त्रालोक, जयरथकृत विवेकसहित, अभिनवगुप्त, भाग 1 से. 12, सं. मधुसूदन कौल शास्त्री एवं मुकुन्दरामशास्त्री, 1918-38।

तन्त्रलोक, अभिनवगुप्त, सं. द्विवेदी, आर.सी. एवं रस्तोगी, नवजीवन, भाग 1 से 8, मोतीलाल बनारसीदास, 1987।

तन्त्रालोक, सं. कृष्णानन्द सागर (सर्वदर्शनाचार्य), भाग 1-4, चौखम्बा संस्कृत सीरीज।

त्रिपुरारहस्य (ज्ञानकाण्ड), आंग्लानुवाद-ए.यू. वासवद, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1965।

देवीनामविलास, साहिबकौल, सं. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, शोधविभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1942।

देवीरहस्य, काक, रामचन्द्र एवं शास्त्री हरभट्ट (सं.), बुटाला पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985।

नित्याषोडशिकार्णव, श्रीभास्कररायकृत सेतुबन्ध व्याख्यासहित, अभ्यंकर, काशीनाथ वासुदेव एवं जोशी गणेशशास्त्री अंबादास, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थांग, 56, 1976।

नेत्रतन्त्र, श्रीक्षेमराजकृत उद्योतसहित, द्विवेदी व्रजवल्लभ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

परात्रिंशिका (लघुवृत्ति एवं विवृत्ति), अभिनवगुप्त, सं. जे.डी. जादू, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1947।

प्रपंचसारतन्त्र, सं. आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, 1981।

बृहन्नीलतन्त्र, कौल, मधुसूदन (सं.), बुटाला एंड कंपनी, दिल्ली, 1984।

भगवद्गीता, राजानक रामकण्ठरचित सर्वतोभद्र टीकासहित, काश्मीर सीरीज़, ऑफ टेक्स्ट्स एंड स्टडीज, 64, श्रीनगर, १९४३।

श्रीमद्भगवद्गीता, शंकरनारायण

श्रीश्रीपरात्रिंशिका, अभिनवगुप्तरचित विवृत्तिसहित, गुर्टू, नीलकण्ठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1985।

श्रीमद्भगवद्गीता, अभिनवगुप्तरचित गीतार्थसंग्रहसहित, भाग 1-2, शंकरनारायण (सं.), श्रीवेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, प्राच्यपरिशोधनालय, तिरुपति, 1985।

प्रत्यभिज्ञाहृदय, क्षेमराज, अनु. जयदेवसिंह, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1973।

महाकालसंहिता (कामकला खण्ड एवं गुह्यकाली खण्ड 1-2), झा, किशोरनाथ (सं.), गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद, 1971-77।

महानिर्वाणतन्त्र, सं. आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1977।

महार्थमंजरी, परिमलसहित, महेश्वरानन्द, सं. मुकुन्दराम शास्त्री,शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1918।

महानयप्रकाश, शितिकण्ठ, सं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं कश्मीर, 1918।

श्रीमातृकाभेदतन्त्र, सं. मैगी, मिकाइल दिल्ली, 1989।

मालिनीविजयोत्तरतन्त्र शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल, बुटाला एंड कंपनी, दिल्ली, 1984।

मालिनीविजयवार्तिक, अभिनवगुप्त, सं. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1921।

श्रीमृगेन्द्रतन्त्रम्, शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल (सं.), मेहरचन्द लक्ष्मणदास, 1982।

मृगेन्द्रागम (क्रियापाद एवं चर्यापाद), भट्ट नारायण काठरचित वृत्ति सहित, सं. एन.आर.भट्ट, पाण्डिचेरी इन्स्टीट्यूट फ्रेन्चाइज़ डी इन्डोलोगी, 1962।

योगिनीहृदयम् (अमृतानन्दयोगीकृत 'दीपिका' एवं भास्करररायकृत 'सेतुबन्ध' सहित), कविराज, म. म. पं. गोपीनाथ (सं.), अनुसंधान संस्थान, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1979।

वामकेश्वरीमत (जयरथकृत विवरणसहित), शास्त्री, पं. मधुसूदन कौल (सं.), शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, 1945।

विज्ञानभैरव, द्विवेदी, व्रजवल्लभ, (सं.), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984।

श्रीविद्यार्णवतन्त्र, शर्मा, भद्रशील (सं.), कल्याण मन्दिर, अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग।

रुद्रयामलतन्त्र त्रिपाठी, भागीरथप्रसाद, योगतन्त्र विभाग, वाराणसी, 1980।

लुप्तागमसंग्रह, प्रथम भाग, कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ, शोध-संस्थान, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी 1970।

लुप्तागमसंग्रह, द्वितीय भाग, द्विवेदी, पं. व्रजवल्लभ, शोध-संस्थान, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1983।

लौगाक्षिगृह्यसूत्र (देवपालकृतभाष्यसहित) भाग 1-2, सं. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री, शोध-विभाग, जम्मू एवं काश्मीर, श्रीनगर, 1928।

शारदातिलकतन्त्रम्, सं. आर्थर एवलॉन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1982।

शिवदृष्टि, उत्पलदेवकृतवृत्तिसहित, सोमानन्द, सं. चतुर्वेदी, राधेश्याम, वाराणसेय संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1986।

शिवसूत्र विमर्श, कौल जानकीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1984।

सकलजननीस्तव, यक्ष, दीनानाथ शास्त्री (सं.), जम्मू-कश्मीर राजकीय शोध-प्रकाश, विभाग, 1960।

स्तवचिन्तामणि, क्षेमराज कृत टीकासहित, भट्ट नारायण, सं. म. म. पं. मुकुन्दराम शास्त्री, शोध-विभाग, श्रीनगर, 1918।

स्पन्दकारिका, भट्ट कल्लटाचार्यरचित वृत्तिसहित, गुर्टू, नीलकण्ठ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1981।

स्वच्छन्दतन्त्र, भाग 1-4, सं. पं. मधुसूदन कौल शास्त्री,संस्कृत ज्ञान संस्थान, दिल्ली, 1986।

स्वच्छन्दतन्त्रम्, भाग 1, 2, 3, सं. द्विवेदी, व्रजवल्लभ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1985।

हठयोगप्रदीपिका, ब्रह्मानन्दरचित ज्योत्स्नासहित, अनु. एवं. सं. श्रीनिवास अयंगार, अड्यार पुस्तकालय, मद्रास, 1975।

हेवज्रतन्त्र, कन्हपादरचित योगरत्नमालासहित, भाग 1-2, सं. श्नेलग्रोव, डी.एल., आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1980।

हिन्दी

आचार्य, श्रीराम शर्मा एवं गौतम, चमनलाल : तन्त्रविज्ञान, संस्कृत संस्थान, बरेली 1974।

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ : तान्त्रिक साहित्य, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1972।

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ, तान्त्रिक, वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1978।

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ, भारतीय संस्कृति और साधना, भाग 1-2, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1977।

कविराज, पं. गोपीनाथ, तन्त्र और आगम-शास्त्रों का दिग्दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1977।

कविराज, म.म.पं. गोपीनाथ, श्रीसाधना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 1985।

काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग 1-5,हिन्दु अनु. काश्यप, अर्जुन चौबे, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

घिल्डियाल, पं. देवीप्रसाद, पंचमकार तथा भावत्रय, कल्याण मन्दिर प्रकाशन प्रयाग।

चौधरी, बी. : शक्तिसाधना, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1963।

जोशी, भंवरलाल, काश्मीर शैवदर्शन और कामायनी, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, 1968।

त्रिपाठी, राममूर्ति, तन्त्र और सन्त, साहित्य सदन, इलाहाबाद, 1975।

त्रिपाठी, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, भारतीय कर्मकाण्ड स्वरूपाध्ययनम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, 1980।

द्विवेदी, कमला, तन्त्रालोक (आ. 4, 5, 6) का आलोचनात्मक अध्ययन (अप्रकाशित), शोधप्रबन्ध, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर, 1976।

द्विवेदी, कमला, परमार्थसार, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

द्विवेदी, व्रजवल्लभ, तन्त्रयात्रा, रत्ना पब्लिकेशन्स, वाराणसी, 1982।

द्विवेदी, हजारीप्रसाद, नाथ-सम्प्रदाय, हिन्दुस्तान एकेडेमी, उ.प्र., इलाहाबाद, 1950।

मिश्र, जनार्दन, भारतीय प्रतीक विद्या, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, 1959।

मिश्र, रवीन्द्रनाथ, तन्त्रकला में प्रतीक, कला प्रकाशन, वाराणसी, 1987।

वात्स्यायन, कपिला (सं.), कलातत्त्वकोश, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1988।

व्यास, सूर्यप्रकाश, बौद्ध वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन, विवेक पब्लिकेशन्स, अलीगढ़, 1986।

वर्मा, श्रीसांवलिया बिहारीलाल, भारत में प्रतीक (मूर्ति)-पूजा का आरंभ और विकास, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974।

शर्मा, नीलकमल, प्राचीन भारत में शक्तिपूजा।

शुक्ल, कृष्णकान्त, शंकर और अभिनवगुप्त के परमतत्त्व की तुलनात्मक मीमांसा, दार्शनिक त्रैमासिक, वर्ष 15, अंक 2, अप्रैल, 1969।

शुक्ल, पं. रमादत्त, क्रमदीक्षापूर्वक पूर्णाभिषेक, शाक्तसाधनापीठ, प्रयाग।

शास्त्री, पं. देवदत्त, तन्त्रसिद्धान्त और साधना, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982।

शास्त्री, डॉ. शिवशंकर अवस्थी, मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966।

शास्त्री, बलजिन्नाथ, काश्मीर शैवदर्शन, रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, 1973।

सिंह, लल्लनप्रसाद, तन्त्र, आनन्दनगर, दिल्ली, 1976।

अंग्रेजी

Arthur Avalon, Tantra-Raj-Tantra, Ganesh and Company, Madras, 1952.
Arthur Avalon, The Serpant Power, Ganesh and Company, Madras, 1958.
Arthur Avalon, The Garland of letters, Ganesh and Company, Madras, 1963.
Authur Avalon, Introduction to Tantra Shastra, Ganesh and Company, Madras, 1963.
Sir John Woodroffe (Arthur Avalon), Principles of Trantra, Pt. I & II, Ganesh & Company, Madras, 1978.
Sir John Woodroffe, Sakti and Sakta, Ganesh & Company, Madras, 1975.
Authur Avalon, Tantrabhidhana, Canton Publisher, 1983.
Arya, Usharbudh, Mantra and Meditation, Pennsylvania, 1985.
Bagchi, P.C., Studies in the Tantras, Calcutta, 1939.
Bandyopadhyaya, Pranab, The Goddess of Tantra, Punthi Pustak, Calcutta, 1987.
Banerjee, J.N., Religion in Art and Archaeology, University of Lucknow, Lucknow, 1968.
Banerji, Sures Chandra, Cultural Heritage of Kashmir, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta, 1965.
Basu, Manoranjan, Fundamentals of the Philosophy of Tantras, MLBD, Delhi.
Bharti Agehanand, Tantric Tradition, Rider and Company, London, 1965.
Bhattacharya, N.N., History of the Tantric Religion, Manohar Publications, New Delhi, 1982.
Bhattacharya, Narendra Nath, History of the Sakta Religion, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1974.
Blofeld, John, Mantras Sacred Words of Power, London, George Allen & Unwin Ltd.,1977.
Bose, D.N. & Haldar, H., Tantras : Their Philosophy and Occult Secrets, Firma KLM, Calcutta, 1981.
Buhnemann, Gudeun : Piya : A Study in Smarta Ritual, Vienna, 1988.
Chakravarti, C Interesting Developments in Vedic Rituals, Calcutta, Gopinath Kaviraj Abhinandan Granth, Lucknow.
Chakravarti, Chintakaran : Tantras, Studies on their Religion and literature, Punthi Pustak, Calcutta, 1972.
Dandekar, R.N., C.G. Kashikar & others, Srautakosa : Encyclopaedia of Vedic Sacrificial Ritual, Poona.
Dange, S.A., Sexual Symbolism from the Vedic Ritual, Ajanta Publications, Delhi, 1979.
Das, S.K. Sakti or Divine Power, Calcutta, 1934.
Datta, Bivhuti Bhusan : Science of the Sulba, a Study in early Hindu Geometry, 1932.
David Kinsley Hindu Goddesses, MLBD, Delhi, 1987.
de Kleen, T. Mudras, University Books, New York, 1970.
Douglas, N. . Tantra Yoga, New Delhi, 1971.
Drury, Naama The Sacrificial Ritual in the Satapath Brahmana, MLBD, Delhi, 1981.
Dyczkowski, Mark, S.G. . The Canon of the Saivagama and the Kubjika tantras of the Western Kaul Tradition, New Delhi.
Frazer, Sir James George : The Golden Bough, a Study in Magic and Religion, Macmillan, London, 1907.

Gonda, J. : The Ritual Sutras, Wiesbaden, 1977.
Gonda, J. : Visnuism and Sivaism, Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1976.
Goudriaan, Tenu : The Vinasikhatantra, MLBD, Delhi, 1985.
Goudrian, Tenu & Gupta, Sunjukta : Hindu Tantric and Sakta Literature, Otto Harrassowitz, Wiesbadan.
Guenther, Herbert V. : Yuganaddha : The Tantric View of Life, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1976.
Hazra, R.C. : Puranic Records of Hindu Rites and Customs.
James, E.O. : Origins of the Sacrifice, Thames and Hudson, London, 1971.
James, E.O. : Sacrifice and Sacrament, Thames and Hudson, London, 1962.
Jash, Pranabananda : History of Saivaism, Roy and Chadhary Calcutta. 1974.
Kaviraj, M.M. Gopinath : The Ascent According to Kaulika Outlook, Bharata Manisha, Vol. I-4, Jan., 1976.
Knight, Gareth : The Practice of Ritual Magic, Rev. Edn., New York.
Kumar, Pushpendra : Sakti Cult in Ancient India, Bhartiya Publishing House, Varanasi, 1974.
La Fontaine (J.S.) Ed. : Interpretation of Ritual; essays in honour of A.I. Richards, 1972.
Mishra, Kamalakar : Significance of the Tantric Tradition, Arddhanarisvara Publications, Varanasi, 1981.
Mukerjee, Ajit & Anand Mulkraj, Tantra Magic, New Delhi, 1977.
Mookerjee, Ajit : Tantra Asana, Ravi Kumar, New Delhi, 1971.
Mukerjee, Ajit & Khanna Madhu : The Tantrik Way, Vikas Publishing House, Delhi, 1977.
Mukerjee, Ajit : Ritual art of India, 1985.
Mukerjee, Ajit : Art Tantra, Kumar Gallary, New Delhi, 1966.
Murphy, Paule E. : Triadic Mysticism, MLBD, Delhi, 1986.
Nagaswami, R. : Sivabhakti, New Delhi, 1989.
Pal Pratapaditya : Hindu Religion and Iconology (According to the Tantrasara PVU), MLBD, Delhi.
Pandey, K.C. Abhinavagupta : An Historical and Philosophical Study, Ed., Chowkhambha Sanskrit Series Office, 1963.
Pandey, Rajbali, Hindu Samskaras, MLBD, Delhi, 1976.
Pandit, B.N. : Aspects of Kashmir Saivism, Utpala Publications, Kashmir, 1977.
Pandit, M.P. : More on Tantras, MLBD, Delhi.
Pandit, M.P. : Tantric Sadhana, I ed. : Bharatiya Jnapitha Publication, Lokadaya Granthamala 200, 1964.
Parimoo, B.N. : The Ascent of Self (A Reinterpretation of the Mystical Poetry of Lalla Ded., MLBD, Delhi.
Philip Rawson : The Art of Tantra, Vikas Publishing House, Delhi, 1973.
Potdar, K.R., Sacrifice in the Rigveda, 1953.
Pragna R. Shah : Tantra : Its Therapeutic Aspect, Punthi Pustak, Calcutta, 1987.
Raghavan, V. : Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India.
Rastogi, Navjeevan : Abhinavgupta's notion of Tantra in the Tantraloka, Indian Theosophist, 82 (10-11) 85, IV 85, Oct., No. 85, pp. 110-20.
Rastogi, Navjivan : The Krama Tantricism of Kashmir, Vol. I, MLBD, Delhi, 1979.
Rudrappa, J. : Kashmir Saivism, Prasaranga, University of Mysore, 1969.
Sastri, T. Ganapati : Isanasivagurudeva Paddhati of Isanasivagurudeva, Vol. I, II, III, Bharatiya Vidya Prakashan, 1988.

Sen, C. · Dictionary of Vedic Rituals (based on the Sruata and Gahya Sutras).
Seidenberg : The Ritual origin of the circle and square.
Sender. Henny : The Kashmiri Pandits : A Study of Cultural Choice in North India.
Sharma, LN. · Kashmir Shaivism, Bharatiya Vidya Prakashan, Varanasi, 1972.
Sharpe, E.J. : 'Sacrifice' Man, Myth and Magic, edited by Richard Cavendish, Purnell, London, 1970.
Shivanand Radha Mantras : Words of Power, MLBD, Delhi.
Singh, Jaideva · Siva Sutras : The Yoga of Supreme Identity, MLBD, Delhi, 1979.
Singh, Jaideva, Vijnana Bhairava or Divine Consciousness, MLBD, Delhi, 1981.
Singh, Jaideva : Spanda Karikas, MLBD, Delhi, 1980.
Singh, Jaideva · Paratrisika Vivarana, MLBD, Delhi, 1988.
Singh, Lalan Prasad : Tantra : Its Mystic and Scientific basis, Concept Publishing Co., Delhi, 1976.
Sir John Woodroffe : See Arthur Avalon.
Sivananda, Swami : Sadhana, MLBD, Delhi.
Staal Frits · AGNI : The Vedic Ritual of the Fire Altar, MLBD, Delhi, 1984.
Staal, F. : The Meaninglessness of Ritual, Nirman International, Review for the History of Religions, 1980.
Staal, F. · "Ritual Syntex in Sanskrit and Indian Studies", Festschift Ingalls Dordrecht, pp. 119-142, 1979.
Staal, J.F. · The Science of Ritual, Poona, 1982.
Suryakanta · Tantric Diksa, ABORI 35, 1954, pp. 10-19.
Svobode, Robert, E. : Aghora : At the left hand of God, New Mexico, 1986.
Ticci, G. The Theory and Practice of the Mandala, London, 1969.
Wadhawani Shah, Yashodhara · Sacrifical ritual and the Upanisads, ABORI 66 (1-4) 85, pp. 47-61.

यपुर
३ से
स्थान
ोलन
ठाता

कई
लिए
ा।

रामचन्द्र द्विवेदी

जन्म : १९३५ में।

एम.ए., पी.एच.डी., साहित्याचार्य और दर्शनाचार्य।

फ्रान्सिसी भाषा का डिप्लोमा। १९६९ में संस्कृत विभाग उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर में आचार्य पद पर नियुक्ति। १९७३ से मानविकी संकाय, उदयपुर के अधिष्ठाता। १९७८ में राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर में आमंत्रित आचार्य। यहां जैन अनुशीलन केंद्र, मानविकी पीठ के निर्देशक, कला संकाय के अधिष्ठाता रहे हैं।

अमरीका, पश्चिमी जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय देशों के कई विश्वविद्यालयों में व्याख्यान और विचार गोष्ठियों में भाग लेने के लिए अनेक यात्राएं। हरित ऋषि पुरस्कार और राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित।

प्रकाशित व सम्पादित ग्रन्थ :

—साहित्य समीक्षा के सिद्धांत
—अभिनव गुप्त का तन्त्रलोक
—जैन विधा का भारतीय संस्कृति को अवदान
—अलंकार सर्वस्व-संजीवनी
—अलंकार मीमांसा
—ब्राह्मण एवं उपनिषदों का संग्रह
—अमर भारती
—भारतीय संस्कृति में जैन विधा का अवदान
—न्याय कुसुमांजलि टीका
—ईश्वर प्रतिभिज्ञा विमर्शिनी—सा.—संपादक

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
(स्थापित १९५०)
२३, दरियागंज नयी दिल्ली-११०००२